

**TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186137

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^H 373 Accession No. H 2985-

Author 69711

Title १।५ दीपनाशायण ग्रंथा
२।५ ग्रंथी साहित्यिक विदा

This book should be returned on or before the date last marked below.

हमारी माध्यमिक शिक्षा

इसके सिद्धान्त और समस्याएँ

(प्रथम भाग)

डॉ० दीपनारायण प्रसाद गुप्त

हमारी माध्यमिक शिक्षा

इसके सिद्धान्त और समस्याएँ

(Our Secondary Education—its principles
and problems)

प्रथम भाग

*“By education I mean an all-round drawing out
of the best in child and man—body, mind and spirit.”*

—Mahatma Gandhi.

डॉ० दीपनारायण प्रसाद गुप्त,

एम० ए० (इतिहास और हिन्दी), एम्० एड्०, पी० एच्० डी०,

टिप्प० इन ई० ई० टी० ऐंड पी० (लन्दन)

प्रिंसिपल, पटना-ट्रेनिंग-कॉलेज

कला-निकेतन

पटना-४



सर्वोदय साहित्य मंदिर.

प्रकाशक

कला-निकेतन

पटना-४

प्रथम संस्करण :

सन् १९५७ ई० :

साढ़े पांच रुपये :

मुद्रक

श्री रामकिशोर मिश्र

युगान्तर प्रेस

पटना-४

समर्पण

स्वतंत्र भारत के उन शिक्षकों के करकमलों
में यह पुस्तक सादर समर्पित है जो
आज के अनेकानेक निर्जीव
माध्यमिक विद्यालयों में
नवजीवन भर देने
का स्वप्न देखते
हैं।

इस पुस्तक का प्रयोजन

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार ने देश के अन्यान्य प्रश्नों के साथ-साथ शिक्षा के प्रश्न को भी अपने हाथों में लिया। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवजीवन, नवसंदेश तथा नवजागृति भर देने की नीति हमारी सरकार ने अपनाई। माध्यमिक शिक्षा के सम्वन्ध में भी अपनी नीति निर्धारित करने के लिए सरकार ने मुदालियर-कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने माध्यमिक शिक्षा के अनेक पहलुओं को परखा। उसके सुधार तथा सरकार की भावी नीति के स्वरूप के सम्वन्ध में अनेकानेक परम विद्वत्तापूर्ण तथा प्रगाढ़ अनुभवपूर्ण सुभाव इस कमीशन ने रखे।

जब से यह रिपोर्ट प्रकाशित हुई तभी से मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होने लगा कि कमीशन के इन सुभावों को कार्यान्वित करने के लिए कुछ ऐसी विवेचना की भी आवश्यकता है जिसके सम्यक् अभिज्ञान से हमारे शिक्षक अपने दैनिक कार्य-सम्पादन में सम्भवतः आवश्यक परामर्श और सहायता प्राप्त कर सकें।

मुदालियर-कमीशन की रिपोर्ट सरकार के लिए लिखी गई थी, क्योंकि सरकार ने ही उसकी नियुक्ति की थी। यदि शिक्षकों के लिए यह रिपोर्ट लिखी जाती तो इसका स्वरूप कुछ परिवर्तित होता। इस रिपोर्ट में माध्यमिक शिक्षा के भावी आदर्श स्वरूप की एक कल्पना की गई है और उस कल्पित आदर्श की प्राप्ति के लिए सरकार की क्या नीति होनी चाहिए, इसी की विस्तृत विवेचना की गई है। शिक्षकों के लिए यह छोड़ दिया गया कि वे कमीशन के नये सुभावों के अनुकूल अपने शिक्षण-सिद्धान्त तथा समस्याओं के सम्वन्ध में अपने-अपने निष्कर्ष निकाल लें। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद भी शिक्षकों के लिए मुदालियर-कमीशन की रिपोर्ट का महत्त्व वैसा ही बना रह जायगा।

इस पुस्तक में वर्णित जो शिक्षा-सिद्धान्त तथा शिक्षण-सिद्धान्त हैं, वे विख्यात शिक्षा-शास्त्रियों के हैं, मेरे नहीं। मैंने तो उन सिद्धान्तों को भारतीय षष्ठभूमि में रखकर स्पष्ट करने की चेष्टा की है

तथा अपने अनुभवों के परिणामों को उनलोगों के सामने रखा है, जिनका पेशा शिक्षण है अथवा निकट भविष्य में होने जा रहा है। यह प्रयत्न मैंने इसलिए किया है कि आजकल माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति-सी चल रही है। इसको प्रगतिशील और सफल बनाने के लिए अनेक कान्फ्रेंस, सेमिनार, शौर्टकोर्स आदि का आयोजन सरकारी और गैरसरकारी तौर से किया जा रहा है। इस प्रकार वर्तमान माध्यमिक शिक्षा में नवजागरण तथा नव दृष्टिकोण भर देने की आवश्यकता चारों तरफ अनुभूत हो रही है।

इस क्रान्तिकाल में शिक्षकों की नवीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है। आशा है कि टीचर्स-ट्रेनिंग-कॉलेज तथा ट्रेनिंग-स्कूल के छात्र इससे काफी लाभ उठा सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास भी है। यही कारण है कि शैक्षिक सिद्धान्तों को अधिक स्पष्ट कर देने की कुछ विशेष चेष्टा की गई है।

पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई लेखक को आरम्भ से अन्त तक रही है। आजकल हिन्दी के उन्हीं प्रचलित शब्दों में आवश्यकतावश नये अर्थों को भर देने की चेष्टा दिखाई दे रही है, अथवा पुगने धातुओं के आधार पर नये-नये शब्दों की रचना की जा रही है। अतः इस संधि-काल में अर्थ-क्षिप्ता कुछ स्वाभाविक है। इस अर्थदुरुद्धता को दूर करने की चेष्टा लेखक ने यथाशक्ति की है। यही कारण है कि अंगरेजी के मौलिक ग्रन्थों से उद्धरणों को लेकर फुटनोट में जहाँ-तहाँ दे दिया गया है। हिन्दी में इन विषयों को पढ़ने और समझने के लम्बे अभ्यास के बाद हमलोगों को उनकी उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी, पर कुछ तो सदा वनी ही रहेगी, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक अनुमन्थान का दावा हम भारतवासी तो क्या, किसी भी देश का निवासी नहीं कर सकता।

इस पुस्तक में अनेक पुस्तकों और रिपोर्टों से सहायता ली गई है। उन सभी के लेखकों का मैं अनुगृहीत हूँ।

पटना-ट्रेनिंग-कॉलेज }
मार्च, १९५७ ई०

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय—१

शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education)

वर्तमान भ्रम; अर्थ स्पष्टीकरण की आवश्यकता; अतीत में शिक्षा का अर्थ; शिक्षाशास्त्रियों की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ; जनसाधारण की दृष्टि में शिक्षा का व्यावहारिक अर्थ; शिक्षा का व्यापक अर्थ; शिक्षा का संकुचित अर्थ; सामान्य शिक्षा का अर्थ; विशिष्ट शिक्षा का अर्थ; माध्यमिक शिक्षा का ऐतिहासिक आधार तथा अर्थ; माध्यमिक शिक्षा का वर्तमान अर्थ ।

पृष्ठ-संख्या १

अध्याय—२

प्रजातंत्र और शिक्षा (Democracy and Education)

प्रजातंत्र का अर्थ; प्रजातंत्र की शैक्षिक आवश्यकता; प्रजातंत्र में शिक्षा का स्वरूप; प्रजातंत्र और शैक्षिक उद्देश्य; प्रजातंत्र और पाठ्यक्रम; प्रजातंत्र और शिक्षण-प्रणाली; प्रजातंत्र और अनुशासन ।

पृष्ठ-संख्या १५

अध्याय—३

राज्य और शिक्षा (The State and Education)

शिक्षा पर आधिपत्य; आधिपत्य का ऐतिहासिक आधार; सरकारी प्रभाव और शिक्षा; राज्य के हस्तक्षेप से हानियाँ; राज्य का उचित स्थान और कर्तव्य ।

पृष्ठ-संख्या २६

अध्याय—४

शिक्षा और राष्ट्रीयता (Education and Nationalism)

राष्ट्रीयता का मनोवैज्ञानिक आधार; राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम के रूप; शिक्षा तथा राष्ट्र-निर्माण; राष्ट्रीय शिक्षा और धर्म; धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता; धार्मिक शिक्षा का विषय; राष्ट्रीयता और शिक्षण-विधि ।

पृष्ठ-संख्या ४०

अध्याय—५

शिक्षा और अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण

(Education and International Understanding)

अन्तरराष्ट्रीयता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि; अन्तरराष्ट्रीयता का दार्शनिक आधार; अन्तरराष्ट्रीयता और शिक्षा का ध्येय; अन्तरराष्ट्रीयता और पाठ्यक्रम; अन्तरराष्ट्रीय चेतना और पाठ्यविषयान्तर कार्य ।

पृष्ठ-संख्या ४६

अध्याय—६

सामाजीकरण की संस्था के रूप में स्कूल

(School as a Socialising Agency)

सामाजिक निर्भरता; सामाजीकरण का अर्थ; सामाजीकरण और स्कूल; सामाजीकरण की विधियाँ ।

पृष्ठ-संख्या ६७

अध्याय—७

स्कूल और उसके व्यावहारिक कार्य

(The School and its Activities)

पढ़ोस से सम्बन्ध; शैक्षिक महत्त्व; पढ़ोस के प्रति स्कूल का कर्तव्य; पाठ्यक्रम और पढ़ोस ।

पृष्ठ-संख्या ७७

अध्याय—८

स्कूल और समाज

(The School and Society)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तनशीलता; शिक्षा और सांस्कृतिक संरक्षण; शिक्षा और सांस्कृतिक निर्माण; सामाजिक कार्य; कठिनाइयाँ; व्यक्तिगत अभिलेखपत्र; सामाजिक आधार की आवश्यकता ।

पृष्ठ-संख्या ६०

अध्याय—९

शैक्षिक सामाजिक संस्थाएँ

(Social Agencies of Education)

शैक्षिक संस्थाएँ; परिवार और शिक्षा; समाज और शिक्षा; संगी-साथियों का प्रभाव; तिनेमा और शिक्षा; रेडियो और शिक्षा ।

पृष्ठ-संख्या १०३

अध्याय—१०

शिक्षा में प्रकृतिवाद

(Naturalism in Education)

दर्शन और शिक्षा; प्रकृतिवाद; प्रकृतिवाद का प्रवर्तक रूसो; शैक्षिक प्रकृतिवाद; प्रकृतिवाद और मानस-विश्लेषण-शास्त्र; शिक्षा का उद्देश्य; शिक्षा और बाल-मनोविज्ञान; पाठ्यक्रम; शिक्षण-विधि; शिक्षक का स्थान; अनुशासन; एक आधुनिक प्रकृतिवादी विद्यालय; प्रकृतिवाद की देन; प्रकृतिवाद की वृद्धियाँ ।

पृष्ठ-संख्या १२५

अध्याय—११

शिक्षा में आदर्शवाद

(Idealism in Education)

आदर्शवाद; शिक्षा का उद्देश्य; पाठ्यक्रम; शिक्षक का स्थान; अनुशासन; आदर्शवाद और मनोविज्ञान ।

पृष्ठ-संख्या १५२

अध्याय—१२

शिक्षा में प्रयोजनवाद

(Pragmatism in Education)

प्रयोजनवाद; शिक्षा का उद्देश्य; पाठ्यक्रम; प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली; अनुशासन ।

पृष्ठ-संख्या १६६

अध्याय — १३

यथार्थवाद और व्यावसायिक शिक्षा का प्रश्न

(Realism and the Question of Vocational Education)

शिक्षा में यथार्थवाद; प्रजातंत्र और व्यावसायिक शिक्षा; व्यावसायिक शिक्षा का महत्त्व; वर्तमान भारत और व्यावसायिक शिक्षा; उदार शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा; व्यावसायिक शिक्षा कब; व्यावसायिक शिक्षा की मात्रा; ग्रामों के माध्यमिक स्कूल; सामान्य वक्तव्य ।

पृष्ठ-संख्या १८३

अध्याय—१४

गांधीवाद और बेसिक शिक्षा-प्रणाली (नई तालीम)

(Gandhism and Basic Education)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि; गांधीवाद का स्वरूप; बेसिक शिक्षा-प्रणाली की विशिष्टताएँ; शिक्षा का उद्देश्य; शिक्षण-प्रणाली; बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम; अनुशासन का स्वरूप; शिक्षक और शिक्षक-प्रशिक्षण; बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन—गुण; बेसिक शिक्षा की चुट्टियाँ ।

पृष्ठ-संख्या २०४

इस पुस्तक के द्वितीय भाग में

अध्याय—१५

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)

अध्याय—१६

शरीर और स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा

(Physical and Health Education)

अध्याय—१७

पाठ्यक्रम (Curriculum)

अध्याय—१८

अध्यापन-विधि के सामान्य सिद्धान्त

(General Principles of the Methods of Teaching)

अध्याय—१९

परीक्षा और निर्धारण

(Examination and Assessment)

अध्याय—२०

भारत में अनुशासन की समस्या

(The Problem of Discipline in India)

अध्याय—२१

लोकतन्त्रात्मक नागरिकता की शैक्षिक समस्या

(The Problem of Training in Democratic
Citizenship)

(च)

अध्याय—२२

बहुपार्श्वीय विद्यालयों में शैक्षिक और व्यावसायिक
मार्ग-प्रदर्शन

(Educational and Vocational Guidance in
Multilateral Schools)

— — —

अध्याय १

शिक्षा का अर्थ

(Meaning of Education)

“Mankind is now in one of its rare moods of shifting its outlook.”

—Whitehead

“No education is worth the name which does not inculcate the qualities necessary for living graciously, harmoniously and efficiently with one's fellow men.”

—Mudaliar Report

किसी भी वस्तु का अर्थ देश-काल पर आश्रित होता है। यही कारण है कि शिक्षा का अर्थ भी विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न लगाया जाता रहा है। यह मत-वर्तमान अम भिन्नता स्वभावतः हमारा ध्यान इसके मूलभूत कारणों की ओर आकर्षित करती है। बात यह है कि हम अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के आधार पर साधारणतः अर्थ निकाला करते हैं। इस पृष्ठभूमि के मूल में होती है हमारी निजी आवश्यकताएँ, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक वातावरण तथा इन वस्तुओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण।

ये तमाम बातें ठीक हैं, तथापि यह भी ठीक है कि अधिकांश में इन विशेषताओं के बीच एक समता भी सम्भव है। वस्तुनिष्ठ

विश्लेषण के सहारे हम अपने भ्रम को अधिकांश में दूर कर सकते हैं। खेद की बात है कि साधारणतः वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए हम प्रयत्नशील ही नहीं होते। यही कारण है कि इस समय शिक्षा के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में भारी भ्रम दृष्टिगोचर हो रहा है।

एक विशेष कारण भी है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् भारतीय जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई। सारा राष्ट्रीय जीवन—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा शैक्षिक—आज डाँवाडोल हो उठा है। युग-युग की व्यवस्थाएँ, जिनकी जड़ सामाजिक भूमि में पाताल तक पहुँच गई थी, आज सन्देह की दृष्टि से देखी जा रही हैं। परिणामस्वरूप जीवन-सम्बन्धी तमाम चीजों के रूप आज पुनः अस्थिर हो गये हैं और उनके भावी स्थायी स्वरूप की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ लोगों के मन में उठ रही हैं। स्वभावतः ऐसे संक्रमणकाल ने शिक्षा के अर्थ-सम्बन्धी भ्रम को और भी पुष्ट कर दिया है। सत्य के दर्शन सभी करते हैं, पर प्रायः अर्ध सत्य के ही। मुश्किल तब पड़ जाती है जब लोग अर्ध सत्य को ही पूर्ण सत्य मान बैठते हैं।

शिक्षा की भावी रूप-रेखा को स्थिर करने के लिए आज देश में अनेकानेक कान्फ्रेंस तथा सेमिनार आयोजित किये जा रहे हैं; अनेकानेक आयोग (कमीशन) नियुक्त किये भी जा चुके हैं। ऐसे अस्थिर समय में शिक्षा के वास्तविक अर्थ को समझने की चेष्टा बड़ी आवश्यक है।

खेद की बात है कि शिक्षा-शास्त्रियों तथा शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति अपनी-अपनी समझ के अनुसार शिक्षा के अर्थ का अर्थ कर रहे हैं। कांग्रेसी, समाजवादी तथा साम्यवादी लोग अपने-अपने राजनैतिक सिद्धान्त के आधार पर शिक्षा का अर्थ कर लिया करते हैं, और साधारण जनता? या तो उसके मन में शिक्षा का कोई निश्चित अर्थ है ही नहीं, यदि है भी तो बिल्कुल अनिश्चित।

न केवल वर्तमान भ्रम को दूर करने के लिए शिक्षा के अर्थ के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है बल्कि शिक्षक होने के नाते हम एक भी सही कदम आगे नहीं रख सकते यदि हमने स्वयं ही शिक्षा का वास्तविक अर्थ अधिकांश में नहीं समझा है। शिक्षक का सारा शैक्षिक कार्यक्रम इस पर आश्रित है। इसके अभाव में हम न शैक्षिक उद्देश्य ही निश्चित कर सकते हैं और न उद्देश्य पर आश्रित होनेवाले शिक्षा-संगठन, शिक्षण-विधियाँ अथवा पाठ्यक्रम। सच तो यह है कि जब तक शिक्षा की आवश्यकता मानव समाज को रहेगी—और यह बराबर रहेगी—तब तक शिक्षा के सही अर्थ को समझने की आवश्यकता वर्तमान रहेगी। एक जमाना था जब हम स्कूल तथा शिक्षक के अभाव में भी अपना काम चला लिया करते थे। वह जमाना कब का लद चुका। वृक्षों की छाल तथा कन्द-मूल से हमारा काम नहीं चलने को। आज की सभ्यता तथा समाज में आदिम पुरुष बिल्कुल बेमेल पड़ जायगा। व्यक्ति का प्राकृतिक तथा अपरिवर्तित स्वरूप समाज को आज प्राप्य नहीं। उसका उचित सामाजीकरण अत्यावश्यक हो गया है। इसके अभाव में वह समाज में खप नहीं सकता। सामाजीकरण का यह कार्य समाज अपनी शिक्षा संस्थाओं के द्वारा करवाता है। मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों के उचित संशोधन के अभाव में उसमें तथा पशु में कम ही अन्तर रह जायगा। पर इस सामाजिक दृष्टिकोण को छोड़ देने पर भी शिक्षा, शिक्षक तथा शिक्षालय की आवश्यकता रह ही जाती है।

उचित शिक्षा के अभाव में व्यक्ति का जीवन दूभर हो जायगा। उसका उचित विकास, उसका सर्वांगीण उन्नयन तथा जीवन-साफल्य सभी इसी पर निर्भर करते हैं। हाँ, यदि हम आदिम जातियों की तरह वन-कन्दराओं में रहकर तथा कन्द-मूल खाकर जीवन यापन करना चाहें तो यह सम्भव हो सकता है। पर ऐसा जीवन आज कितनों को पसन्द है ?

मनुष्य की मूल-वृत्तियाँ संशोधित होती हैं वातावरण के प्रति उसकी निरन्तर की प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप। शिक्षा के अभाव में मनुष्य अधिकांश में अपने वातावरण के समक्ष नतशिर हो जाता है और शिक्षा प्राप्त कर वातावरण पर विजय प्राप्त करने में वह अधिकांश में सफल हो जाता है। प्रकृति के साथ इस सफल संघर्ष से सभ्यता का विकास होता है और उचित सभ्यता के विकास से, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि से, मानव जीवन सुखमय, सन्तोषप्रद तथा सुन्दर हो पाता है। ये तमाम बातें शिक्षा द्वारा सम्भव हो सकती हैं। इस स्थल पर हम शिक्षा का व्यापक अर्थ ही ध्यान में रखते हैं। शिक्षा की व्यापक उपयोगिता के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है कि “हम शिक्षा को जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। यदि प्रगति ही जीवन है तो शिक्षा इस प्रगति को उचित दिशा में नियन्त्रित तथा संचालित करती है। यदि कर्मण्यता ही जीवन है तो शिक्षा कर्मण्य बनाती है। यदि व्यक्ति तथा समाज की उन्नति में जीवन के दर्शन होते हैं तो शिक्षा उसे प्राप्त कराने का प्रयत्न करती है।” शिक्षा के द्वारा ही हम अपनी सामाजिक परम्पराओं की रक्षा कर पाते हैं तथा उसे सम्भवतः संशोधित तथा परिवर्धित कर आनेवाली पीढ़ियों को सौंप जाते हैं। स्पष्ट है कि यदि शिक्षा इतनी महत्वपूर्ण वस्तु है तो उसका यथासम्भव वास्तविक अर्थ जान लेना परमावश्यक है।

अति प्राचीन काल में शिक्षा का बड़ा सरल अर्थ लिया जाता था। सामाजिक दृष्टिकोण से शिक्षा का अर्थ यही माना जाता था कि समाजगत संस्कृति तथा सभ्यता सहसा नष्ट न होकर आगामी पीढ़ी तक पहुँच जाय। चूँकि उनकी संस्कृति का भाण्डार ही बहुत संकुचित था इसलिए पाठशाला सुलभ शिक्षा के अभाव में भी इस कार्य का सफल सम्पादन हो पाता था। उन दिनों न थे कोई स्कूल और न कोई शिक्षक, तथापि व्यापक अर्थ में शिक्षा सम्भव हो पाती थी। चौदह-पन्द्रह साल का होते-होते लड़का सारी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का

अतीत में शिक्षा

का अर्थ

प्रधिकारी बन बैठता था। उसकी सहज उत्सुकता तथा अनुकरणशीलता उसकी सहायता करती थी। दर्शन, श्रवण, सम्भाषण तथा अनुकरण द्वारा वह बालक सारी सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति का स्वामी हो जाता था। उन्मुक्त प्रकृति, घर, दूकान, उद्योगशाला, मन्दिर अथवा समस्त सामाजिक वस्तु-वस्तु-वस्तु उस बालक की पुस्तक के पृष्ठ होते थे। जब तक जीवन सरल था, सामाजिक संगठन सरल था तब तक शिक्षण-विधि भी सरल थी। किसी विशेष विद्यालय अथवा शिक्षक की आवश्यकता बिल्कुल नहीं थी। जीवन शिक्षा था, शिक्षा जीवन थी।

कालान्तर में जीवन उत्तरोत्तर जटिल होता गया, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं तथा ज्ञान-विज्ञान का कोष वृद्ध होता गया। इस सांभूतिक परिवर्धन का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। शिक्षा भी अपना प्राचीन अर्थ खो बैठी। उसकी परिधि के अन्तर्गत अनेक नवीन वस्तुओं को सम्मिलित कर लोगों ने उसके अर्थ का रूपान्तर करना आरम्भ किया।

प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ परम संकुचित था। व्यक्ति में सच्चरित्रता तथा धार्मिक प्रवृत्ति का विकास

शिक्षा-शास्त्रियों की
दृष्टि में शिक्षा
का अर्थ

शिक्षा का अभिप्राय माना जाता था। मुस्लिम शिक्षा शास्त्री भी शिक्षा का प्रायः यही अर्थ लगाते थे। धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर कमेनियस ने कहा कि मनुष्य की चरमगति परमात्मा के सन्निकट चिरानन्द का उपभोग करना है और सच्ची शिक्षा इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा की धार्मिक परिभाषा उत्तरोत्तर गौण पड़ती गई। पेस्टेलौट्सी ने शिक्षा के अर्थ की प्राचीन धारा को बदल दिया। वास्तविक शिक्षा की उपमा उसने एक पौधे से दी। उसने बताया कि जिस प्रकार पौधे अथवा विशाल वृक्ष की सारी सम्भावनाएँ उसके नन्हें से बीज में वर्तमान रहती हैं उसी प्रकार मनुष्य की समस्त शक्तियाँ सुप्तावस्था में नवजात शिशु में वर्तमान

होती हैं। शिक्षा उन्हीं शक्तियों को विकसित करती है। जिस प्रकार एक चतुर माली सर्व-सम्भावना-सम्पन्न पौधे के उचित विकास के लिए सुन्दर भूमि तथा खाद आदि का प्रबन्ध करता है और यह देखता रहता है कि बाहर की विघ्न-वाधाएँ पौधे को नष्ट न कर दें उसी प्रकार शिक्षक का कर्तव्य है कि वह सारी शक्तियों तथा सम्भावनाओं से सम्पन्न बालक के विकास के लिए उचित वातावरण उपस्थित करे, न कि बाहरी ठूँसठाँस की हानिप्रद चेष्टा में संलग्न हो। * विकास के सारे काम प्रकृति स्वयं करती है। शिक्षक को इस कार्य में केवल सहायता भर देनी है। बालक के मानसिक, नैतिक तथा अन्य विकास उसकी अन्तःप्रेरणा के अनुसार होने चाहिए, न कि बाह्य अथवा कृत्रिम उपकरणों के द्वारा। प्रेम, विश्वास, कल्पना अथवा ज्ञान की वृद्धि बालक के निजी अनुभवों द्वारा होनी चाहिए, न कि शिक्षक के शब्दों या उपदेशों के द्वारा।

दूसरे शब्दों में शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि मानव की समस्त शक्तियों तथा सम्भावनाओं का स्वाभाविक प्रगतिशील तथा संतुलित विकास ही वास्तविक शिक्षा है। इस विकास में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव है—शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक।

* 'Sound education stands before me symbolized by a tree planted near fertilizing water. A little seed, which contains the design of the tree, its form and its properties, is placed in the soil. The whole tree is an uninterrupted chain of organic parts, the plan of which existed in its seed and root. Man is similar to the tree. In the new-born child are hidden those faculties which are to unfold during life. The individual and separate organs of his being form themselves gradually into unison, and build up humanity in the image of God. The education of man is a purely moral result. It is not the educator who puts new powers and faculties into man, and imparts to him breath and life. He only takes care that no untoward influence shall disturb nature's march of development.'

इङ्गलैण्ड की माध्यमिक शिक्षा का अध्ययन करने के उपरान्त स्पेन्स रिपोर्ट ने शिक्षा के व्यावहारिक स्वरूप पर अधिक जोर डाला। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री जॉन ड्यूई ने बताया कि शिक्षा का तात्पर्य है मनुष्य की समस्त शक्तियों का विकास जिसकी सहायता से वह अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करता हुआ अपनी सम्भावनाओं को सम्भव कर सके। महात्मा गांधी ने कहा 'By education I mean an all-round drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit.' अर्थात् शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बालक तथा व्यक्ति की अन्तःस्थित सुन्दरतम विभूतियों का विकास—क्या शारीरिक, क्या मानसिक, क्या नैतिक।

लोग शिक्षा से साधारणतः यह आशा करते हैं कि यह मनुष्य को अच्छा पुत्र, अच्छा पति, अच्छा भाई तथा अच्छा पिता बनने में सहायक होती है। यही नहीं, यह उसे अच्छा जनसाधारण की दृष्टि में शिक्षा का व्यावहारिक अर्थ पड़ोसी, नागरिक तथा उत्पादक बनाती है। शिक्षा मनुष्य को विभिन्न परिस्थितियों में तथा संस्थाओं में कार्यकुशल तथा उनका सफल सदस्य बनाती है (इतनी आशाएँ शिक्षा से इसलिए की जाती हैं कि मनुष्य समाज से तटस्थ रहनेवाला प्राणी नहीं, प्रत्युत समाज में, समाज के लिए तथा समाज का होकर रहनेवाला व्यक्ति है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समाज के अन्तर्गत रहकर अपना तथा उसका उन्नयन उसे सम्भव करना है। यदि समाज से मनुष्य का सम्बन्ध इतना अटूट और अभिन्न है तो यह स्पष्ट है कि समाज के अन्तर्गत मनुष्य को सभी दृष्टिकोण से सफल बनाना शिक्षा का प्रथम अभिप्राय माना जायगा।

समाज के जटिल हो जाने के कारण आज यह कार्य दुष्कर हो गया है। प्राचीन काल की तरह आज का समाज न तो उतना सरल है, न उतना संकुचित और न हम आज जीवन धारण करने भर के लिए, केवल मौलिक आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र तथा घर) से तृप्त होनेवाले हैं। हमने आज अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते-बढ़ाते कहाँ

से कहाँ पहुँचा दिया है। आवश्यकताएँ बढ़ीं पर जीवन की लम्बाई उतनी ही रह जाने के कारण उन परिवर्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु उचित तैयारी की अवधि उतनी ही रह गई। परिणाम यह हो गया है कि उतनी ही अवधि में अथवा विद्यार्थी जीवन में ही मनुष्य को सफल-जीवन-यात्रा के लिए सारी तैयारियाँ कर लेनी पड़ती हैं।

इसका एक परिणाम और भी हुआ है। ज्यों-ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ीं और समाज जटिल होता गया हमारे स्कूलों का उत्तरदायित्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। स्कूलों के बिना भी हम कभी जीवन-यापन सुलभ अनायास शिक्षामात्र से अपना काम चला पाते थे, वह अब असम्भव हो गया है। अब तो समाज को स्कूलों की अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ी है, वैसे स्कूलों की जो अपने निश्चित कार्यक्रमों द्वारा हमारा व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन पूर्ण तथा सुखी बना सकें। उन्हीं स्कूलों को हम आज वास्तविक स्कूल कहेंगे और उन्हीं को राष्ट्रीय पैसों पर चलने का अधिकार है।

आज के स्कूलों को आज के जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। जिस शिक्षा की आधारशिला तात्कालिक जीवन नहीं वह शिक्षा शिक्षा नहीं, असत्य तथा अनुपयुक्त है। लेनिन ने अपने प्रभावशाली शब्दों में एक बार कहा था कि वह स्कूल बिल्कुल धोखा है जिसका सम्बन्ध जीवन और राजनीति से नहीं है।*

शिक्षा-संस्था के रूप में घरों के उत्तरोत्तर विलीन होने के कारण आज हमारे स्कूलों की जवाबदेही बेहद बढ़ गई है। वर्तमान युग के औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप आज हमारे घर विशृङ्खल होते जा रहे हैं। ऐसे गाढ़े समय में यदि हमारे स्कूलों ने अपनी जवाबदेही नहीं समझी तो भारी अनिष्ट हो जा सकता है। यदि शिक्षा का सही अर्थ ही स्कूलों ने नहीं समझा तो उनके शिक्षा सम्बन्धी सारे कार्य-क्रम मार्ग-भ्रष्ट हो जा सकते हैं। एच० सी० डेंट का कथन है कि आज का स्कूल वैसा स्थानमात्र नहीं रह गया है जहाँ भिन्न-भिन्न विषयों से

* A school, apart from life, apart from politics, is a lie and a hypocrisy."

सम्बन्ध रखनेवाली चन्द बातें बताई जाती हैं, प्रत्युत् वैसा स्थान है जहाँ बालकों को पूर्ण तथा बहुमुखी जीवन के अनुभव प्राप्त होते हैं और परिणामस्वरूप जहाँ वे सुन्दर-सुन्दर अभ्यास अपने में डालते हैं, ज्ञानार्जन करते हैं तथा विभिन्न कलाओं को सीखते हैं ताकि उनका जीवन सोद्देश्य, आनन्दमय तथा सर्जनात्मक हो जावे, न केवल आज के जीवन में, प्रत्युत् कल के भी ।*

यह है शिक्षा का अर्थ और ये हैं हमारी अथवा समाज की आशाएँ अपनी शिक्षा-संस्थाओं से । हमारी शिक्षा को सही होने के लिए अपेक्षा है सही स्कूलों की, सही स्कूलों को अपेक्षा है सही शिक्षकों की । जब तक समाज सही व्यक्तियों को अपने स्कूल में नहीं भेजता, हमारे स्कूल सही नहीं हो सकते । और भी, हमारी शिक्षा को सही होने के लिए इस बात की भी अपेक्षा होती है कि हमारे बच्चे अपनी-अपनी आयु, योग्यता तथा रुचि के अनुकूल सही स्कूलों में प्रवेश करें । हमें यह भूलना नहीं है कि स्कूल बच्चों के लिए स्थापित किये जाते हैं, न कि बच्चे स्कूलों के लिए पैदा होते हैं । यदि यह ठीक है कि सब बच्चे एक-से नहीं होते, तो यह भी ठीक है कि सभी स्कूलों को एक-सा नहीं होना चाहिए ।

व्यापक अर्थ में हमारा सम्पूर्ण जीवन ही हमारा शिक्षक है । अपने वातावरण की विभिन्न वस्तुओं के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं और तज्जन्य अनुभवों से हम कुछ-न-कुछ सीखते ही रहते हैं । इस तरह घर-परिवार, मुहल्ला-टोला, मित्रों की गोष्ठी, विद्यालय, विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएँ, मतविनोद के साधन, संभाषण तथा यात्राएँ—सभी शिक्षा के व्यापक

* "It is no longer primarily a place for instruction in certain traditional field of knowledge and skills, but a place where children may experience a rich and many-sided life, and through experiencing this, may gradually form habits, develop attitudes, acquire knowledge, and learn skills which will enable them to live happily, purposefully and creatively, both at the time and in the future."

अर्थ में विद्यालय का काम करने लग जाते हैं और इन सभी साधनों से हमारा जीवन विकसित, परिवर्द्धित तथा पूर्ण होता चलता है। अनुभव-सुलभ ऐसी शिक्षा को शिक्षा तो हम अवश्य कहेंगे; पर मानना पड़ेगा कि ऐसी शिक्षा कई अंशों में अपूर्ण, आकस्मिक तथा अनिश्चित होती है। ऐसी शिक्षा के साधन होते हैं साहचर्य तथा समाजगत उदाहरण और आदर्श।

संकुचित अर्थ में शिक्षालयों में मिलनेवाली शिक्षा को हम शिक्षा की संज्ञा प्रदान करते हैं। ऐसी शिक्षा किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ करती है; किसी निश्चित कार्य-क्रम को लेकर अग्रसर होती है; किसी निश्चित शिक्षण-विधि को अपनाती है। यह निश्चित स्थान, समय तथा अवधि में दी जाती है और समाज ऐसे शिक्षालयों को स्थापित करने तथा चालू रखने के लिए आर्थिक दान आदि देता है। ज्ञान की व्याप्तता के दृष्टिकोण से इन शिक्षालयों में मिलनेवाली शिक्षा बहुमुखी तथा सर्वांगीण नहीं हो पाती। एक निश्चित ज्ञान-गठरी को बाज़क के सिर पर लादकर शिक्षक अपने कार्य की इतिश्री कर लिया करते हैं। इसी ज्ञान-गठरी को लेकर बालक परीक्षा पार कर जाते हैं; चाहे वे जीवन की दलदल में फँसकर आजीवन असफल क्यों न होते रह जायँ। इसका कारण यह होता है कि उनकी अन्तर्निहित शक्तियाँ प्रायः अविकसित ही रह जाती हैं। शिक्षक को इसकी परवाह नहीं होती। वे भूल जाते हैं कि शिक्षा का वास्तविक अर्थ है 'अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करना, पके-पकाए ज्ञान को टूँसना नहीं।'।

सामान्य जीवन-यात्रा को सफलतापूर्वक पार करानेवाली शिक्षा को सामान्य शिक्षा कहा जाता है। अंगरेजी में ऐसी शिक्षा को 'लिबरल एडुकेशन' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'उदार शिक्षा' भी कहा जाता है। ऐसी शिक्षा से यह आशा की जाती है कि व्यक्ति अपने जीवन में आनेवाली छोटी-मोटी तमाम घटनाओं का सामना सफलतापूर्वक कर सकेगा।

सामान्य जीवन को सफल बनाने के लिए उसे सभी आवश्यक हथकण्डे प्राप्त हो गये हैं।

सामान्य शिक्षा (लिबरल एडुकेशन) का जो अर्थ प्राचीन यूनानी लगाते थे, वह आज नहीं लगाया जाता। उस अर्थ का आज अधिकांश में रूपान्तर हो गया है। इसकी वर्तमान परिभाषा को देता हुआ पौल मनरो कहता है कि उदार शिक्षा वह है जो मनुष्य को अपने जीवन के सभी व्यापारों तथा कार्यों के लिए योग्य बनाती है। इससे उसका दृष्टिकोण व्यापक होता है। अपने जीवन के किसी मुख्य व्यवसाय के लिए ही उसकी तैयारी नहीं होती, प्रत्युत् सभी सामान्य कार्यों में उसे दक्षता प्राप्त हो जाती है तथा समाजगत विभिन्न संस्थाओं की पृष्ठभूमि में वह अपने जीवन का अर्थ तथा महत्त्व देखता है।*

किसी विशेष व्यवसाय के सफल संचालन के लिए दी गई शिक्षा को 'विशिष्ट शिक्षा' की संज्ञा दी जाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि विशिष्ट शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहा करती। वस्तुतः, किसी सीमा तक दी गई सामान्य शिक्षा के अभाव में विशिष्ट शिक्षा पा लेने के बाद भी कोई व्यवसाय या शिल्प सफलतापूर्वक सम्पादित नहीं किया जा सकता। यह भी ठीक है कि विशिष्ट शिक्षा के अभाव में सामान्य शिक्षा कई अंशों में बेकारी को जन्म देती है। बीसवीं सदी की बढ़ती हुई बेकारी की समस्या ने विशिष्ट शिक्षा की ओर पुनः ध्यान आकर्षित कर दिया है। वस्तुतः आवश्यकता है दोनों प्रकार की शिक्षाओं के उचित संतुलन की। एक के अभाव में दूसरी का असह्य तथा अनुपयोगी हो जाना अवश्यम्भावी है। विशिष्ट शिक्षा अथवा व्यवसाय विशेष के लिए दी गई शिक्षा केवल उस क्षेत्र में ही दक्षता

* "A liberal education is one which fits a man so well for his profession, for his life as a citizen and for all of his activities in life, that he is very much broader than that profession, seeing the import of his life in institutions."

प्रदान कर सकती है। यह मानना ही पड़ेगा कि व्यवसाय विशेष का क्षेत्र वास्तविक जीवन के विशाल क्षेत्र का केवल एक कोना मात्र होता है। विशिष्ट शिक्षा के हिमायतियों को यह बात भूलनी नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अपने देश में प्रारम्भिक शिक्षा (primary or elementary education) तथा उच्च शिक्षा (university education)

माध्यमिक शिक्षा का
ऐतिहासिक आधार
तथा अर्थ

की रूपरेखा जितनी स्पष्ट है, उतनी माध्यमिक शिक्षा की नहीं। यूरोप में, मध्यकालीन युगों में, माध्यमिक शिक्षा पादरियों के हाथों में थी। धार्मिक परम्पराओं की शृंखला टूट न

जाय इसके लिए तत्कालीन गिरजे माध्यमिक शिक्षा को परमावश्यक समझते थे और इसीलिए इसकी व्यवस्था भी प्रायः वे ही करते थे। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति न केवल गिरजों में पादरी बन जाया करते थे, प्रत्युत् कुछ लोग सरकारी नौकरियों में भी खप जाया करते थे।

गिरजों में दी गई माध्यमिक शिक्षा स्वभावतः धार्मिक हुआ करती थी। धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषय मुश्किल से पढ़ाये जाते थे। पीछे चलकर काफी आन्दोलन के पश्चात् मातृभाषा, इतिहास, भूगोल, गणित तथा विज्ञान आदि विषय माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जा सके। माध्यमिक शिक्षा का अर्थ यह समझा जाता था कि मनुष्य को कुछ धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन हो जाय और ग्रीक तथा लैटिन भाषा तथा उनके साहित्यों के अध्ययन से उसका कुछ मानसिक उन्नयन हो जाय, ताकि वह जीवन की सामान्य समस्याओं को सुगमता से सुलभ कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक शिक्षा का अर्थ सामान्य शिक्षा अथवा उदार शिक्षा से लिया जाता था। यह विश्वास किया जाता था कि धार्मिक ग्रन्थों तथा ग्रीक-लैटिन साहित्यों के अध्ययन से मस्तिष्क का विकास हो जाता है जो जीवन-गत सभी गुणधर्मों के सुलभाने में समर्थ होता है। आगे चलकर बीसवीं सदी में मनो-

वैज्ञानिकों ने अपने अथक और अपरिमित अनुसन्धानों से इस भ्रम को दूर किया। परिणाम यह हुआ कि युग-मर्यादित माध्यमिक शिक्षा का अर्थ संकुचित तथा खोखला दिखाई पड़ने लगा। माध्यमिक शिक्षा का एकमात्र तात्पर्य यह हो गया कि वह विश्व-विद्यालय की शिक्षा का सोपान बने।

कैण्डेल का कथन है कि माध्यमिक शिक्षा के इस अर्थ-परिवर्तन में अन्य घटनाओं ने भी योगदान दिया। समाज में मध्यम वर्ग की सृष्टि, वाणिज्य-व्यवसाय की अभूतपूर्व उन्नति तथा विज्ञान के पदार्पण ने लोगों में नवीन सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताएँ उत्पन्न कर दीं।* माध्यमिक विद्यालयों से यह आशा की जाने लगी कि वे इन नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति कर दें। फल यह हुआ कि इस कार्य के सफल सम्पादन के लिए माध्यमिक शिक्षा के प्राचीन अथवा मध्य-कालीन अर्थ का काफी रूपान्तर कर देना पड़ा।

विज्ञान का विकास, वाणिज्य-व्यवसाय की चमत्कारपूर्ण उन्नति तथा उद्योगों के सामूहिक यन्त्रीकरण ने समाज में एक नई समस्या उत्पन्न कर दी। यह अनुभूति उत्तरोत्तर होने लगी कि प्रारम्भिक शिक्षा-मात्र से अब काम नहीं चलने का। सामूहिक तथा अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा की एक नई पुकार जहाँ-तहाँ आरम्भ हुई। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री थ्रिंग ने कहा—“There is no stupid boy.” भाव यह है कि कोई भी बालक इतना मूर्ख नहीं कि उसे माध्यमिक शिक्षा दी नहीं जा सकती है। माध्यमिक शिक्षा का यह अर्थ नहीं कि वह केवल पुस्तकीय हो, अथवा एक ही प्रकार की हो। बहुमुखी माध्यमिक शिक्षा हर किसी के अनुकूल हो सकती है। अतीत में यदि माध्यमिक

* “The gradual emergence of the middle classes, the rapid development of commerce and industry, and the still more remarkable development and expansion of the sciences led to demands for types of secondary schools to meet the new social and economic needs.”

शिक्षा .वर्ग-विशेष के बच्चों अथवा कुछ चुने-चुनाये बच्चों के ही अनुकूल समझी गई, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि वह शिक्षा एकमुखी होने के कारण बालकों की भिन्न-भिन्न योग्यता, क्षमता तथा रुचियों के अनुकूल नहीं बन सकी।

प्रजातन्त्र की भावना के प्रसार ने भी माध्यमिक शिक्षा की नींव मजबूत कर दी। सुधारवादियों ने आवाज बुलन्द की—‘We must educate our masters.’ प्रजातन्त्र में मतदाता ही सारी सरकारी शक्ति का केन्द्र समझा जाता है। सफल प्रजातन्त्र की यह मौलिक माँग है कि प्रत्येक मतदाता समाज तथा राष्ट्र के सच्चे हितों को सम्भरकर उनकी रक्षा के लिए सही उम्मीदवार को, मतदान देकर, प्रतिनिधि चुने। प्रारम्भिक शिक्षामात्र के आधार पर यह कार्य उतना सम्भव नहीं। आज सफल नागरिकता के लिए माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य समझी जाने लगी है। उसके मध्यकालीन अर्थ को छोड़कर आज के जीवन में उसका नवीन अर्थ खोजा जा रहा है।

— — —

अध्याय २

प्रजातन्त्र और शिक्षा

(Democracy and Education)

“Democracy is the heir of many traditions. We see it as an attempt to unite the Greek love of freedom, the Roman feeling for law; the Christian love and brotherhood, the mediaeval respect for reason, the seventeenth century pursuit of empiricism and science, and—not least – that passion for social justice and equality which animated the reformers of the eighteenth and nineteenth centuries.”

In a democracy the individual has a threefold value and significance: as a human personality, as a citizen, and as a producer of wealth. The educational system must then be planned to secure the full and harmonious development of body, mind and soul for the threefold purpose of personal living, civic responsibility, and useful employment.”—H. C. Dent.

“But in a democracy—if it is anything more than the thoughtless exercise of the vote—an individual must form his own independent judgment on all kinds of complicated social, economic and political

issues and, to a large extent, decide his own course of action.”—Mudalier Commission.

“To learn democracy effectively, children must learn it operationally.”...Brubacher.

प्रजातन्त्र के लिए उपयोगी शिक्षा की रूप-रेखा स्पष्ट करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रजातन्त्र किसे कहते हैं तथा इसका अर्थ क्या है। आम तौर पर प्रजातन्त्र का अर्थ जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा संचालित सरकार को प्रजातन्त्र कहते हैं, पर इस अर्थ को साधारणतः बीसवीं सदी के पूर्व का अर्थ कह सकते हैं। आजकल ऐसे अर्थ को एक प्रकार का राजनैतिक अर्थ मात्र समझा जाता है। वर्तमान काल के प्रजातन्त्र की भावना में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तत्त्व डाल दिये गये हैं।

राजनैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्र में ऐसी सरकार की कल्पना की जाती है जो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की बनी हो। राज्य किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष अथवा दल-विशेष का नहीं समझा जाता। प्रत्येक नागरिक इस राज्य का स्वामी तथा प्रजा माना जाता है। आजकल प्राचीन नगर-राज्यों के स्थान में बड़े-बड़े राज्यों के स्थापित हो जाने के कारण यह कहना कठिन है कि आजकल का प्रजातन्त्र शुद्ध प्रजातन्त्र है। सच पूछिए तो आजकल चार-पाँच वर्षों के लिए एक बार जनता द्वारा चुनी हुई प्रतिनिधियों की मण्डली सरकार का संगठन करती है। एक दिन मतदान देकर वर्षों के लिए जनता चुप बैठ जाती है। ऐसी सरकार कहाँ तक शुद्ध प्रजातन्त्र है या जनता की सरकार है, यह बात विचारने की है। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आजकल के विशाल राष्ट्रों के लिए शुद्ध प्रजातन्त्र सम्भव नहीं है।

प्रजातन्त्र की इस कमी को देखकर आजकल के विद्वानों ने इसमें सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण भी सम्मिलित कर दिये हैं।

सामाजिक अर्थ में प्रजातन्त्र से यह समझा जाता है कि राज्य की दृष्टि में सभी नागरिक बराबर हैं। जातिविशेष में उत्पन्न होने के कारण कोई भी व्यक्ति औरों से न बड़ा है, न छोटा। किसी दल-विशेष का सदस्य होने के नाते भी हम बड़ाई-छोटाई का दावा नहीं कर सकते। कानून की नजर में सभी बराबर माने जाते हैं। सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने, समझने, विचार व्यक्त करने, निर्भयतापूर्वक समालोचना करने, मिलने-जुलने तथा व्यवसाय करने के अधिकार हैं। ये अधिकार जन्मसिद्ध समझे जाते हैं और किसी से छीने नहीं जा सकते। भारतीय प्रजातन्त्र में किसी भी धर्म को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति, व्यक्ति होने के नाते, महत्त्वपूर्ण है। किसी का किसी के द्वारा कुचला जाना कानून की दृष्टि में जुर्म है।

आजकल के विद्वान् इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। आर्थिक तत्त्वों को भी आजकल बड़ा महत्त्व दिया जाता है। यह दलील पेश की जाती है कि राजनैतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता और अधिकार प्राप्त कर लेने भर से व्यक्ति पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं हो पाता। आजकल समाज के अन्तर्गत कुछ ऐसा आर्थिक सङ्गठन उपस्थित हो गया है कि इन अधिकारों के बावजूद भी व्यक्ति का शोषण किया जा सकता है। अतः, व्यक्ति के आर्थिक संरक्षण को भी वर्तमान प्रजातन्त्र की भावना में जोड़ दिया गया है।

आर्थिक शक्ति एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीभूत हो जाने पर समाज में शोषित तथा शोषक दो वर्गों की उत्पत्ति हो जाती है। प्रजातन्त्र को यह स्वीकार नहीं। पूँजीवाद को प्रजातन्त्र का शत्रु माना जाता है। उत्पादन और वितरण में भी सभी का अधिकार समझा जाता है।

संक्षेप में यही है प्रजातन्त्र का अर्थ और इसी अर्थ को ध्यान में रखकर हमें शैक्षिक प्रश्नों का स्वरूप स्थिर करना है।

प्रजातन्त्र के उपर्युक्त तीनों मौलिक तत्त्वों को यदि हम स्वीकार कर लेते हैं और उन्हें संरक्षित रखना चाहते हैं तो हमें शिक्षा का

प्रजातन्त्र की शैक्षिक
आवश्यकता

उद्देश्य उन्हीं के अनुकूल स्थिर करना पड़ेगा। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व की हमें रक्षा करनी है तो हमें वे सारी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी पड़ेंगी जो व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगी। व्यक्ति की सभी सुप्त शक्तियों का विकास शिक्षा का ध्येय बन जाता है। ये शक्तियाँ मनुष्य में तब उत्पन्न होती हैं जब वह शिक्षित होता है और अच्छी-अच्छी आदतों को डालकर अपने चरित्र में दृढ़ता लाता है। ऐसा व्यक्ति ही प्रजातन्त्र का योग्य तथा सफल नागरिक बन सकता है और अपने उत्तरदायित्वों को निभाते हुए अपने स्वत्वों की रक्षा कर सकता है। सफल नागरिकता के इन गुणों के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि ये आपसे-आप व्यक्ति में प्रादुर्भूत नहीं हो जाते। शिक्षा का कर्तव्य है कि जनता को इन आवश्यक गुणों से सम्पन्न करे। मानसिक विकास शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। इस विकास के अभाव में मनुष्य अपनी परिस्थितियों का शिकार बन जाता है। मुदालियर-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि यदि प्रजातन्त्र का अर्थ आँख बन्द कर वोट (मत) दे देने भर से कुछ अधिक है, तो प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह सारे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक पेचीले प्रश्नों पर स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय कर सके और अपनी कार्य-प्रणाली को अधिकांश में स्वयं स्थिर करे। निष्कर्ष यह है कि प्रजातन्त्र में सभी व्यक्ति शिक्षा तथा आचरण से सम्पन्न हों।

प्रजातन्त्र में शिक्षा से दूसरी आशा यह की जाती है कि वह सभी व्यक्तियों में उत्पादन की दक्षता उत्पन्न करे, ताकि राष्ट्र सम्पत्तिशाली हो और लोगों के रहने का स्तर ऊँचा हो। ये बातें व्यावसायिक शिक्षावाले अध्याय में अधिक स्पष्ट की गई हैं।

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए इन बातों के अतिरिक्त उसके सांस्कृतिक उन्नयन की भी आवश्यकता है। जीवन केवल जीना

नहीं है। मानवेतर प्राणियों के लिए जीवित रहना ही सारा ध्येय हो सकता है, पर मनुष्य की सर्वतोमुखी सम्भावनाएँ इतने ही से उपलब्ध नहीं हो जाती हैं। उसका जीवन उत्पादन और उपभोग का जोड़-मात्र नहीं। असंख्य दिशाओं में मनुष्य की प्रतिभा प्रवाहित, विकसित तथा प्रतिकूलित हो सकती है और मानव-सभ्यता इन्हीं सर्वतोमुखी क्रियाओं का परिणाम है।

जब प्रजातन्त्र की कल्पना में हम व्यक्तित्व को इतना महत्त्व देते हैं तब वह व्यक्ति के एकांगी विकास से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। अतः, शिक्षा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह व्यक्ति को न केवल शिक्षा-सम्पन्न करे, प्रत्युत् उसमें सफल नागरिकता के सारे गुण उत्पन्न करे, उसे चतुर उत्पादक और भोक्ता बनावे तथा उसके सांस्कृतिक विकास के लिए प्रयत्नशील हो। चूँकि माध्यमिक शिक्षा के बाद हमारे अधिकांश विद्यार्थियों की शिक्षा समाप्त हो जाती है, इसलिए इसी स्तर पर शिक्षा को उपर्युक्त सारे काम कर देने हैं। यदि शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी किसी में स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र निर्णय की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई और औरों के बहकावे में आकर वह शोषण की सामग्री बना ही रह गया तो, उसकी शिक्षा अधूरी अथवा व्यर्थ ही समझनी चाहिए।

प्रजातन्त्र में सफल नागरिकता के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति में न केवल विचार-शक्ति विकसित हो, बल्कि उसकी वाणी और लेख भी स्पष्ट हों। क्योंकि समाज का भी उसे सफल सदस्य बनना है इसलिए व्यक्ति में इन गुणों के प्रादुर्भाव के प्रश्न को शिक्षा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकती। सफलता और उत्तमता से सभी सामाजिक समस्याओं को समझना, बोल और लिखकर हृद्गत भावनाओं की अभिव्यक्ति कर सकना, आदि ऐसे मौलिक साधन हैं जिनके अभाव में हम एक भी गंभीर कदम नहीं रख सकते। अतः, शिक्षा की किसी भी योजना में इन क्षमताओं का परिवर्द्धन सम्मिलित होना चाहिए।

प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सामाजिक जीवन को सफल बनाने के लिए हमें इस बात की भी आवश्यकता होती है कि औरो के व्यक्तित्व के प्रति हमारे हृदय में आदर का भाव हो। सामूहिक सुख-शान्ति की वृद्धि करते हुए हम मिल-जुलकर रहना सीखें, उनके विचार और उनकी भावनाओं को उचित रूप में समझने के लिए हम प्रयत्नशील हों।

शिक्षा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह हममें शारीरिक श्रम के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करे। इस श्रद्धा के अभाव में उन तमाम लोगों के प्रति समादर का भाव हम नहीं रख सकते जो शारीरिक श्रम पर ही जीते हैं तथा जिनके श्रम के फल का सभी बुद्धिजीवी उपभोग करते हैं। व्यक्ति के महत्त्व को उचित मात्रा में समझने तथा बनाये रखने के लिए ऐसा दृष्टिकोण परमावश्यक है। प्रजातन्त्र में सफल सामाजिक जीवन की नींव द्वेष, प्रतियोगिता तथा शोषण की आधार-शिला पर नहीं डाली जाती। इसके लिए आवश्यकता होती है सद्भाव, सौहार्द तथा सहिष्णुता की। इसलिए, व्यक्ति में इन गुणों को विकसित करना शिक्षा का उद्देश्य हो जाता है।

प्रजातन्त्र में व्यक्ति के महत्त्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय हो जाता है। वह व्यक्ति-विशेष अथवा जाति या वर्ग-विशेष की वस्तु न रहकर समस्त प्रजातन्त्र में शिक्षा का स्वरूप समाज की वस्तु बन जाती है। यदि हम शिक्षा को व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास का एक प्रधान साधन मानते हैं, तो सब किसी के द्वार पर इसे पहुँचा देना हमारा फर्ज बन जाता है। फलतः प्रसार और प्रकार की दृष्टि से शिक्षा का प्रश्न बड़ा पेचीला हो जाता है।

प्राथमिक शिक्षा के विषय में विद्वानों की धारणा है कि जीवन की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह एक प्रारम्भिक तथा परमावश्यक साधन है। इतना ही नहीं, इसकी प्राप्ति के विषय में हमारे मनोवैज्ञानिक यह भी बताते हैं कि यह प्रत्येक व्यक्ति

की प्रकृति-प्रदत्त क्षमताओं के अन्तर्गत है। ऐसी परिस्थिति में प्रजातंत्र में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर देना सरकार का पहला कर्तव्य हो जाता है। अनिवार्य बनाने के लिए इसे निःशुल्क कर देना भी आवश्यक होता है।

शिक्षा के स्वरूप की व्यापकता-मात्र से काम पूरा नहीं होता। प्रजातन्त्र में राज्य को वयस्क शिक्षा की भी समुचित व्यवस्था करनी पड़ती है। व्यक्ति की कल्पना में बच्चे ही नहीं, बल्कि वयस्क भी आते हैं। अतः, उनकी शिक्षा उपेक्षा की दृष्टि से देखी नहीं जा सकती। उन्नत राज्य इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रातःकालीन तथा सायंकालीन स्कूलों की स्थापना करता है, क्योंकि दिन में हमारे वयस्क किसी-न-किसी व्यवसाय में व्यस्त रहा करते हैं।

प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति का शिक्षा पर जन्म-सिद्ध अधिकार मानकर उन्नत राज्य उन लोगों की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध करता है, जो किसी न किसी शारीरिक अक्षमता के शिकार हैं। इसीलिए अन्धे, बहरे, गूंगे तथा मानसिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों को भी कुछ शिक्षित करने की व्यवस्था की जाती है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों की शिक्षा का स्वरूप अवश्य भिन्न होगा। अन्यो की सामर्थ्य-सीमा के अन्तर्गत जो शिक्षा है वह इनके लिए अनुपयुक्त ही सिद्ध होगी।

माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप भी प्रजातन्त्र में एक नहीं रह जाता। प्रकार और परिमाण दोनों की दृष्टि से एक व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ दूसरे व्यक्ति से इतनी भिन्न हुआ करती हैं कि एक ही प्रकार की माध्यमिक शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए उपयोगी नहीं कही जा सकती। सबको समान अवसर प्रदान करने की नीति के अनुसार प्रजातन्त्र में अनेक प्रकार की माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकता पड़ जाती है, ताकि राष्ट्र के सभी बच्चे अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा के भाण्डार में हाथ डालकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

सिद्धान्त की बात तो यह है कि शिक्षा के किसी भी उद्देश्य को सनातन नहीं मानना चाहिए। यदि शिक्षा के उद्देश्य जीवन के प्रयोजनों से प्रेरणा ग्रहण करते और अपने स्वरूप का निर्माण करते हैं, तो यह स्पष्ट है, एक का दूसरे से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए। यह बात भी अनुभव-प्रसूत तथा प्रत्यक्ष है कि जीवन के प्रयोजन प्रत्येक युग में परिवर्तित हो जाया करते हैं। यह परिवर्तन सर्वव्यापी परिवर्तनशीलता का परिणाम हुआ करता। यह स्वाभाविक है और टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार यदि हमारे जीवन के प्रयोजन विभिन्न कालों में विभिन्न होते रहेंगे तो, हमारी शिक्षा के उद्देश्य की रूप-रेखा भी बार-बार बननी और मिटनी चाहिए; तभी हमारी शिक्षा जीवनोपयोगी तथा जीवन-सम्बद्ध कही जायगी।

वर्तमान युग के प्रजातन्त्र की प्रमुख विचारधारा तथा आवश्यकताओं को दृष्टिकोण में रखकर कुछ मोटी-मोटी बातें शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार हमारी शिक्षा को वे सारी व्यवस्थाएँ करनी हैं जिनसे व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास सम्भव हो। शिक्षा का कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के न केवल शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक उन्नयन को वह सम्भव करे, प्रत्युत् इस उन्नयन की व्यवस्था व्यक्ति की सामाजिक पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रखकर करे। प्रजातन्त्र में सामाजिक जीवन को सफल बनानेवाले उन सभी गुणों को व्यक्ति में आरोपित करना भी शिक्षा का उद्देश्य बन जाता है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह इस बात का अभिज्ञान करा देना है कि वह समाज का है तथा समाज के लिए है। यदि उसे सामाजिक देन की अपेक्षा है, तो समाज को भी उसकी देन की अपेक्षा है। इस सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को प्रत्येक व्यक्ति में उत्पन्न करना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का उचित समाजीकरण भी शिक्षा का उद्देश्य बन जाता है।

सबसे मोटी, पर मौलिक, बात यह है कि क्लास अथवा वर्ग के अन्दर पढ़ाये गये पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों के पुस्तकीय ज्ञान से यदि बढ़कर नहीं, तो उससे कम महत्त्वपूर्ण पाठ्य-विषयान्तर क्रियाएँ (extra-curricular activities) नहीं हुआ करतीं। वर्तमान दृष्टि में इन क्रियाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया जा रहा है, जो ठीक भी है, कि आज के विद्वान् इन्हें अतिरिक्त (extra) कहना गलत मानते हैं। वे इन्हें पाठ्यक्रम के अन्तर्गत किसी भी विषय के बराबर आवश्यक मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये क्रियाएँ व्यक्ति के सामाजीकरण में बहुत अधिक सहायता प्रदान करती हैं।

प्रजातन्त्र और
पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों के सम्बन्ध में भी आजकल यह धारणा है कि सारी सामाजिक तथा व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सभी विषयों को माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर देना चाहिए और कुछ आवश्यक साधन-स्वरूप विषयों को छोड़कर, बाकी को ऐच्छिक बना देना चाहिए; ताकि प्रत्येक बच्चा अपनी-अपनी रुचि तथा क्षमता के अनुकूल विषयों का निर्वाचन तथा अध्ययन कर सके। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रजातन्त्र में पाठ्यक्रम का बहुमुखी (multilateral) होना आवश्यक है।

चन्द विषयों के पुस्तकीय ज्ञान से बढ़कर सम्भवतः यह बात है कि व्यक्ति में स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्वतन्त्र निर्णय की शक्ति उत्पन्न की जाय। भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञान को न केवल साध्य के रूप में हमें अपने विद्यार्थियों के समक्ष रखना है, प्रत्युत् उनके मानसिक विकास तथा उनके उचित समाजीकरण का साधन भी उन्हें बनाना है।

प्रचलित भिन्न-भिन्न शिक्षण-प्रणालियों में से चाहे जो भी शिक्षण-प्रणाली शिक्षक अपनावे, आवश्यकता है उसे केवल अपना दृष्टिकोण बदल देने की। यदि स्वयं शिक्षक पर प्रजातन्त्र का गहरा रंग चढ़ा हुआ है, यदि उसकी निजी विचारधारा तथा दृष्टिकोण प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल है, तो उसकी शिक्षण-प्रणाली आप-से-आप

प्रजातन्त्र और
शिक्षण-प्रणाली

प्रजातन्त्र के उपयुक्त हो जायगी। साहित्य, इतिहास अथवा भूगोल को पढ़ाता हुआ भी वह उनमें प्रजातन्त्रोपयोगी दृष्टिकोण रख ही देगा और फलतः बच्चों में प्रजातन्त्र की भावना का प्रादुर्भाव होता चलेगा। प्रत्येक विषय में वह उन सामग्रियों पर जोर देता चलेगा जिनसे बच्चों में प्रजातन्त्र की भावना पुष्ट हो।

पाठ्य-विषयों के इस प्रकार के शिक्षण के अतिरिक्त वह पाठ्य-विषयान्तर क्रियाओं की न केवल व्यवस्था करेगा, प्रत्युत् उनका संगठन वह प्रजातन्त्र की भावनाओं के अनुकूल करेगा। चीजें वही होंगी, पर उनके रूप भिन्न होंगे।

प्रजातन्त्र में अनुशासन का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता है। बाहरी विशाल समाज का संगठन, शासन तथा अनुशासन प्रजातन्त्र और अनुशासन प्रजातन्त्र में बिल्कुल भिन्न हुआ करते हैं। जिस राज्य में तानाशाही है अथवा निरंकुश राजतन्त्र है वहाँ ये सारी बातें तानाशाही की मौलिक भावनाओं के अनुकूल की जाती हैं। राष्ट्र की प्रत्येक व्यवस्था से उसी की गन्ध आने लगती है। राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के सम्भव पारस्परिक विरोध को जान-बूझकर मिटा दिया जाता है। प्रजातन्त्र में भी ऐसे ही उपायों का अवलम्बन किया जाता है। राष्ट्र की सारी व्यवस्थाओं पर प्रजातन्त्र की मुहर लगी हुई होती है। समाज के अन्तर्गत जितनी भी संस्थाएँ हुआ करती हैं उनका संगठन प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्त के अनुकूल किया जाता है। स्कूल भी, समाज की तथा समाज के अन्तर्गत एक संस्था है। अतः, उसका वातावरण भी प्रजातन्त्र के अनुकूल होना जरूरी है।

ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि विद्यालय के अन्दर अनुशासन भी इसीके अनुकूल हुआ करता है। जिस प्रकार बाहर के विशाल समाज में शासन-क्रिया हर किसी की वस्तु समझी जाती है, उसी तरह स्कूल के अन्दर भी एक व्यक्ति अथवा कुछ ही व्यक्तियों (शिक्षक) के द्वारा शासन का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाता। दलील यह

पेश की जाती है कि लगभग दस वर्षों तक बच्चों को तानाशाही के वातावरण में लगातार रखकर उनसे यह आशा करना कि वे कल स्कूल से बाहर जाकर प्रजातन्त्र के अनुकूल आचरण करने लग जायेंगे, भयंकर भूल है। जिसने प्रजातन्त्र के अनुकूल समाज में एक दिन भी आचरण करना नहीं सीखा, कल वह एक सफल नागरिक नहीं बन सकता। जिसने पानी में कभी पैर नहीं रखा, वह क्या खाक तैर सकेगा !

उपयुक्त तर्कों से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुशासन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व केवल शिक्षकों पर ही नहीं, प्रत्युत् विद्यार्थियों पर भी होना चाहिए। आत्म-अनुशासन प्रजातन्त्र की रीढ़ है। तरह-तरह के कानून बच्चों पर लादे नहीं जाते। वास्तविक परिस्थिति में उच्छृङ्खलता को देखकर उन्हें स्वयं नियम तथा अनुशासन की आवश्यकता अनुभूत होती है। यही उच्छृङ्खलता उन्हें उपयुक्त नियमों को बनाने तथा उनपर चलने की प्रेरणा प्रदान करती है। और, इस प्रकार आत्म-अनुशासन की क्रिया आरम्भ हो जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि जो नियम वे स्वयं बनाते हैं उन्हें वे जल्द भंग नहीं करते। अनेक शिक्षा-शास्त्रियों का विश्वास है कि जितना सुन्दर अनुशासन इस तरीके से सम्भव है, उतना शिक्षकों द्वारा लादे जाने से नहीं।

अध्याय ३

जन-कल्याण राज्य और शिक्षा

(Welfare State and Education)

“Education is a longterm investment for any state.”

“The function of the State is to protect and promote, not to absorb or take the place of the family and the individual.”

—Raymont.

बालकों तथा नवयुवकों की शिक्षा पर किसका आधिपत्य हो, यह प्रश्न आज तक एक समस्या के रूप में रहा है। इस आधिपत्य की माँग कई दिशाओं से होती रही है। परिवार शिक्षा पर आधिपत्य कहता है कि बच्चा हमारा है। उसके पालन-पोषण तथा उचित शिक्षा का अधिकार स्वभावतः हमारा है। अगर कोई इसमें हस्तक्षेप करता है तो यह उसकी धाँधली है। पर, परिवार के अधिकार की स्वाभाविकता स्वीकार करते हुए यह बात कही जा सकती है कि इस उत्तरदायित्व के उचित निर्वाह की क्षमता यदि सभी परिवारों को नहीं है तो अधिकार की माँग का तर्क बिल्कुल थोथा है। यदि सभी परिवार सामूहिक रूप से सम्पन्न, शिक्षित तथा सुविधाप्राप्त होते तो राष्ट्र के बालकों की शिक्षा का भार उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया जाता। यह निर्विवाद है कि जिस ममता तथा

लगन के साथ माँ-बाप अपने बच्चों को शिक्षित कर सकते हैं, उतना शिक्षक के लिए साधारणतः सम्भव नहीं। पर, प्रश्न यह उठता है कि आज कितने माँ-बाप को इतनी आर्थिक क्षमता है, कितनों को शैक्षिक योग्यता है तथा कितनों को पर्याप्त अवकाश है कि वे अपने बच्चे की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर सकें। भारत की पारिवारिक अवस्था इस दृष्टिकोण से और भी अवनत है। भारत ही क्यों, उन्नत से उन्नत देश में भी आज सभी परिवार क्षमतासम्पन्न होने का दावा नहीं कर सकते। यदि ये बातें ठीक हैं तो परिवार का अपने बालक की शिक्षा पर अधुण्य अधिकार तथा उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शिक्षा पर आधिपत्य की माँग धार्मिक संस्थाएँ भी करती हैं। उनका कथन है कि राष्ट्र के बच्चों की शिक्षा का प्रश्न एक धार्मिक प्रश्न है। इस पुनीत कार्य में औरों का हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित है। ठीक है। यदि हमारी धार्मिक संस्थाएँ इस कार्य को व्यापकता, परिमाण एवं उत्तमता, तीनों दृष्टिकोण से सफलतापूर्वक कर सकें, तो इस अधिकार की माँग और दान में किसी को भी आपत्ति नहीं होगी। पर ऊपर पारिवारिक माँग के विरुद्ध जो दलीलें दी गई हैं वे प्रायः सभी न्यूनाधिक मात्रा में इन पर भी लागू हो जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में धार्मिक संस्थाओं पर पूरा भार सौंप देना राष्ट्र के सच्चे हित में नहीं कहा जायगा।

इस अधिकार की माँग राज्य तथा सरकार की ओर से भी की जाती है। सरकार कहती है कि राज्य के शासन की बागडोर हमारे हाथों में है तथा राज्य की रक्षा का भार भी हमारे ऊपर है। इसलिए सुशासन और सुरक्षा में सहायता पहुँचानेवाली तमाम बातों का संचालन हमारे ही हाथों में होना चाहिए। सरकार को उत्तरोत्तर यह अनुभूति होने लगी कि राज्य की वास्तविक तथा दीर्घकालीन रक्षा यदि कोई शक्ति कर सकती है तो वह सामूहिक राष्ट्रीय शिक्षा ही है, न कि बन्दूकें। ऐसी परिस्थिति में यह बिल्कुल स्वाभाविक

है कि राज्य की रक्षा के लिए राष्ट्रीय शिक्षा पर आधिपत्य की माँग सरकार उपस्थित करे।

एक बात और राज्य की माँग के पक्ष में कही जा सकती है। व्यक्तिगत परिवार अथवा धार्मिक संस्थाओं को राष्ट्रीय शिक्षा के उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए जितनी आर्थिक क्षमता है उससे बहुत अधिक साधन और क्षमता सरकार को रहा करती है। यदि सरकार इस उत्तरदायित्व की भावना से वास्तव में प्रेरित हो, तो वह इस कार्य को बहुत बड़े पैमाने पर और बहुत अधिक सफलता के साथ कर सकती है।

शिक्षा पर आधिपत्य की उपर्युक्त माँगों के विरुद्ध शिक्षा-शास्त्री अपनी आवाज उठाते हैं। उनका कथन है कि शिक्षा का क्षेत्र स्वभावतः और व्यावहारिक दृष्टि से भी हमारा ही है। यही हमारा क्षेत्र है। यही हमारा पेशा है। अध्ययन-अध्यापन में ही हमने अपनी जिन्दगी बिताई है। शिक्षा-क्षेत्र के विभिन्न अंगों पर जितना हमने मनन तथा चिन्तन किया है उतना औरों ने नहीं। जब यह कार्य हमारे ही द्वारा सम्पादित होने को है, तो इस पर अधिकार भी हमारा ही होना चाहिए। व्यक्ति, समाज, सरकार, राज्य तथा धार्मिक संस्थाओं का इसी में अधिक-से-अधिक कल्याण है।

प्राचीन काल में, अपने देश में, बच्चों की प्राथमिक शिक्षा गाँवों में होती थी जिस पर सरकार अथवा राज्य का ऐतिहासिक आधार कोई अधिकार नहीं था। साधारणतः ग्राम का पुरोहित इस कार्य को करता था। वह पुरोहित समाज से अपना भरण-पोषण प्राप्त करता था।

माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा साधारणतः हमारे गुरुकुलों में होती थी। इन गुरुकुलों के आचार्य धार्मिक भावना से अथवा समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अध्यापन का कार्य किया करते थे। सरकार अथवा राज्य को इनसे कोई सीधा सरोकार नहीं था।

कभी-कभी कोई राजा किसी-किसी गुरुकुल को कुछ गाँव दे दिया करता अथवा कुछ जमीन दे देता था जिसकी आमदनी गुरुकुल को प्राप्त होती थी। पर, साधारणतः गुरुकुल अपना काम आप चला लिया करते थे। शिक्षार्थी पार्श्ववर्त्ती ग्रामों अथवा नगरों से कुछ-न-कुछ माँग लिया करते थे और उसी से ये गुरुकुल चला करते थे। गुरुकुलों के चलाने का उत्तरदायित्व सीधा न किसी समाज पर था, न किसी सरकार अथवा धार्मिक संस्था पर। वस्तुतः, शिक्षा पर आधिपत्य की माँग का प्रश्न उस समय था ही नहीं। प्रायः यही अवस्था अपने देश में मध्यकालीन युगों तक बनी रही।

प्राचीन यूरोपीय इतिहास पर दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न देशों में आधिपत्य का प्रश्न भिन्न-भिन्न रूपों में रहा। यूनान का इतिहास हमें बताता है कि स्पार्टा के नगर-राज्य में शिक्षा पर पूर्ण आधिपत्य सरकार का था। तत्कालीन परिस्थिति के कारण शिक्षा सरकारी हाथों में चली गई थी। उसी युग में परिस्थिति भिन्न होने के कारण एथेंस की सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा पर अपना कोई भी आधिपत्य नहीं रखा था। हस्तक्षेप न करने की नीति (policy of laissez faire) वहाँ की सरकार ने स्वीकार की थी।

मध्य युगों में यह आधिपत्य गिरजों को प्राप्त हो गया था। सरकार को इससे न कोई सरोकार था, न कोई इस में रुचि थी। गिरजों को अपनी हस्ती कायम रखनी थी, अपना प्रचार-कार्य करना था। इसके लिए उन्हें शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता थी। अतः, इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने स्कूल खोल रखे थे। माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का भार अधिकांश में विशाषों पर था।

आगे चलकर फिस्ते (Fichte) तथा हिगेल (Hegel) आदि विद्वानों ने शिक्षा के क्षेत्र से गिरजों का अधिकार छीन लेने की नीति का समर्थन किया। इन विद्वानों ने बताया कि व्यक्ति अथवा अन्य

सामाजिक या धार्मिक संस्था को कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं। व्यक्ति अथवा संस्था का कर्त्तव्य है राज्य के आदेशों पर चलना तथा उसी का कल्याण-साधन करना। राज्य ही सब कुछ है। उसी के कल्याण में व्यक्ति का कल्याण है। अगर राज्य डूबा तो व्यक्ति बच नहीं सकता।

राज्य के इस असाधारण अधिकार को व्यक्तिवाद (Individualism) के समर्थकों ने स्वीकार नहीं किया। व्यक्तिवादियों का विश्वास है कि व्यक्ति तथा राज्य का अधिक-से-अधिक मात्रा में कल्याण इसी बात में है कि व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास में राज्य अपनी टाँग न अड़ाए। स्वतन्त्रता के वातावरण में व्यक्ति का सर्वतोमुखी उन्नयन जितना सम्भव है उनना इसके विपरीत वातावरण में नहीं।

व्यक्तिवाद का अनन्य पुजारी जेम्स स्टूअर्ट मिल कहता है कि मैं किसी भी व्यक्ति की इस बात का बराबर विरोध करता हूँ कि राज्य के हाथों में शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णश अथवा अधिकांश में जाय। व्यक्तिगत चरित्र, विभिन्न सम्मतियों तथा आचरण के विभिन्न स्वरूपों के महत्त्व के विषय में जितनी भी बातें कही गई हैं उन्हें इसकी आवश्यकता है कि शिक्षा भी बहुमुखी हो। इस बात का भी उतना ही अकथनीय महत्त्व है। राज्य-संचालित सामान्य शिक्षा सभी व्यक्तियों को एक-सा बना देनेवाली प्रणाली है। जिम माँचे में राज्य जनता को ढालना चाहता है वह माँचा वही है जो राज्य की सरकार को पसन्द है, चाहे वह सरकार एकदन्त्र हो, शिष्ट जनतन्त्र हो या प्रजातन्त्र हो। जिस अनुपात में यह सरकार सफल तथा सफल होती है उसी अनुपात में यह लोगों के मस्तिष्क पर और परिणामस्वरूप उनके शरीर पर भी एकाधिपत्य स्थापित कर लिया करती है। यदि सरकार द्वारा स्थापित तथा शासित शिक्षा की आवश्यकता होती तो यह अन्यान्य प्रयोगों की तरह एक प्रयोग-मात्र होना चाहिए, जिसका ध्येय एकमात्र यह हो कि वह एक (उत्तम) उदाहरण

उपस्थित करे और अन्य प्रयोगों को उच्च स्तर पर लाने को प्रोत्साहित करे ।*

जैसी सरकार होती है शिक्षा पर प्रभाव भी वंसा ही पड़ता है । यदि निरंकुश राजतन्त्र हुआ या तानाशाही हुई, तो शिक्षा के रूप, उसके पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-प्रणाली आदि को सरकारी प्रभाव परिवर्तित कर इस प्रकार मरोड़ दिया जाता और शिक्षा है कि भावी प्रजा अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व पूरी तरह खो बैठे और आँख बन्दकर राजभक्त बन जाय । ऊपर से जो भी आज्ञा दी जाय उसका विना किसी ची-चपड़ के पालन करे, सारे सरकारी कामों का सहर्ष अनुमोदन करे और पसन्द नहीं पड़ने पर भी सरकार की आलोचना न करे । शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह विद्यार्थियों में राजभक्ति उत्पन्न करने के लिए सभी उचितानुचित उपायों का अवलम्बन करे । विद्यालयों पर भी सरकारी खुकिया विभाग की नजर लगी रहती है ।

यदि देश में प्रजातन्त्र है, तो ऐसी सरकार भी अपनी सत्ता को सनातन बनाने के लिए सभी उपायों का अवलम्बन करती है । स्कूल के पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियाँ तथा अनुशासन आदि सभी चीजों से

* "That the whole or any large part of the education of the people should be in State hands, I go as far as anyone in deprecating. All that has been said of the importance of the individuality of character and the diversity in opinions and modes of conduct, involves, as of the same unspeakable importance, diversity of education. A general State education is a mere contrivance for moulding people to be exactly like one another : and as the mould, in which it casts them, is that which pleases the predominant power in the government whether this be a monarch, a priesthood, an aristocracy, or the majority of the existing generation; in proportion as it is efficient and successful, it establishes a despotism over the mind, leading by natural tendency to one over the body. An education established and controlled by the State should only exist, if it exist at all, as one among many competing experiments, carried on for the purpose of example and stimulus, to keep the others up to a certain standard of excellence.

प्रजातन्त्र की गन्ध आने लगती है। ऐसी सरकार की यह नीति निस्सन्देह होती है कि देश भर के नागरिक शिक्षित हो जायँ, क्योंकि शिक्षा के अभाव में मूर्ख मतदाताओं के द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की सरकार अन्धी सरकार ही कही जायगी। इसकी कोई गारण्टी नहीं रहती कि देश के शिक्षित, अनुभवी तथा उत्तमोत्तम रत्न ही प्रतिनिधि के रूप में चुने गये हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्रजातन्त्र में प्रत्येक मतदाता एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि ये अशिक्षित तथा मूर्ख हुए तो प्रजातन्त्र भी खोखला हो जा सकता है। इसीलिए प्रजातन्त्र की सरकार की नीति होती है अपने मतदाताओं को शिक्षित करना ('We must educate our masters') और इसी नीति की पूर्ति के लिए सरकार देश भर की शिक्षा की एक वृहत् योजना अपने हाथों में लेती है। गैरसरकारी शिक्षा-संस्थाओं को भी सरकार आर्थिक सहायता तथा विशेषज्ञों द्वारा अनुभवपूर्ण परामर्श दिलवाती रहती है।

समाजवादी सरकार व्यक्तिवादियों की दलील को नहीं मानती। ऐसी सरकार इस नीति को गलत मानती है कि शिक्षा-क्षेत्र से सरकार को कोई सरोकार नहीं होना चाहिए अथवा हस्तक्षेप न करने की नीति पर ही उसे चलना चाहिए। समाजवादी सरकार मिल की व्यक्तिवादी नीति को राष्ट्र के लिए हानिप्रद समझती है। वह सोचती है कि सामूहिक शिक्षा की आधार-शिला पर ही सरकार की सत्ता रह सकती है। ऐसी सरकार राज्य को पुलिस स्टेट नहीं मानती जिसका कार्य प्रायः नास्त्यात्मक हुआ करता है। उनकी दृष्टि में सरकार का काम केवल इतना ही नहीं कि वह जनता में आपसी मार-पीट, दंगा-फसाद तथा चोरी-बेईमानी आदि भर को रोके और लोगों के जान-माल की रक्षा भर करे। वे राज्य का अर्थ जन-कल्याण-राज्य (welfare state) लगाते हैं। स्पष्ट है कि इस नीति को एक बार स्वीकार कर लेने पर शिक्षा तो क्या, समाज अथवा राष्ट्र के सर्वतोमुखी उन्नयन के सारे उत्तरदायित्व सरकारी कन्धों पर आ जाते हैं।

ऐसी समाजवादी सरकार इस नीति का अवलम्बन करती है कि सभी नागरिकों को अपने-अपने व्यक्तित्व की सन्तुलित उन्नति के लिए समान अवसर प्रदान किया जाय। समान अवसर का अर्थ यह नहीं लगाया जाता कि देश में एक प्रकार की सुविधा सबके लिए सुलभ कर दी जाय और लाभ उठानेवाले इससे लाभ उठा लें। प्रत्युत्, ऐसी सरकार विश्वास करती है कि मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकृति तथा प्रवृत्ति के अनुकूल देश में अनेक प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था सरकार की ओर से हो। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर सरकारी हस्तक्षेप की नीति आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है।

कैण्डेल का कथन है कि यदि वर्त्तमान राज्य की यह नीति स्वीकार कर ली जाय कि सबको समान अवसर दिया जाना चाहिए तब तो शैक्षिक सुविधा का आयोजन करना सरकार का फर्ज हो जाता है। यदि व्यक्ति की सर्वतोमुखी उन्नति से तथा अनेक प्रकार के अनुभवों को प्रोत्साहित करने से ही राज्य का सच्चा हित-साधन हो सकता है तो राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उनके प्रोत्साहन के लिए देश में उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था का आयोजन करे। ऐसी सरकार का यह ध्येय नहीं रहता कि सभी व्यक्तियों को एक ही प्रकार की संस्थाओं में एक ही प्रकार की पाठ्य-सामग्री पढ़ाई जाय, प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के अनुकूल शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर उपलब्ध हो। इस नीति का अनुसरण करती हुई सरकार शिक्षा पर एकाधिपत्य स्थापित नहीं करती और यदि कुछ लोग गैर-सरकारी स्कूलों को चलाना चाहते हैं तो उन्हें वह नहीं रोकती, वरन् इस बात पर दृष्टि रखती है कि कोई विद्यालय समुचित स्तर से नीचे न गिर जाय।*

* 'If equality of opportunity is accepted as the essential principle of the modern State, then there can be no question but that educational facilities must be provided by the State. If the interests of the State are best served by the fullest development of the individual, and by the promotion of

कुछ लोगों का विश्वास है कि शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के निरन्तर के हस्तक्षेप से अनेक हानियों की सम्भावना हो जाती है। राज्याधीन शिक्षा तत्कालीन सरकार की दासी बन जाती है और वह आदर्श जो उसे पसन्द है उसी पर सारी जनता को ले चलने पर उतारू हो जाती है। इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि जो आदर्श अथवा मार्ग उसे पसन्द है वह सर्वोत्तम है। एक साँचा सर्वोत्तम होकर भी राज्य के सभी व्यक्तियों के लिए अनुपयुक्त ही कहा जायगा। व्यक्तित्व के उचित तथा सम्यक् प्रस्फुटन के लिए वह बाधक ही सिद्ध होगा। राष्ट्र समृद्धिशाली और सर्वसम्पन्न तब होता है जब उसे अनेकानेक प्रकार के योगदान प्राप्त होते हैं, न कि तब होता है जब सभी व्यक्ति राज्य को एक ही प्रकार के उपहार भेंट चढ़ाते हैं। राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति बहुरूपता में होती है, न कि एकरूपता में।

ऊपर की दलील यदि ठीक है तो स्पष्टतः यह बात राष्ट्र के सच्चे हित में होगी कि शैक्षिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप न्यूनातिन्यून हो। व्यक्ति के स्वाभाविक तथा अकुण्ठित विकास में ही राष्ट्र का सच्चा कल्याण है। उन्मुक्त तथा स्वतन्त्र वातावरण में प्रकृति-प्रदत्त अन्तर्निहित सम्भावनाओं को सम्भव करने में ही व्यक्ति का भी कल्याण है। राष्ट्र के बच्चों को निर्जीव वस्तु की तरह यदि कोई सरकार अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक साँचे में ढालने का प्रयास करे तो बहुरूपता के अभाव में राष्ट्र का सांस्कृतिक पतन हुए

variety of experience, rather than by uniformity, then the task of the State is to create the best machinery for their encouragement, and its concern is not that all shall be educated alike in the same institutions, but that all shall have equal opportunities for education accessible to them. Accordingly the State, on these principles, does not establish a monopoly to the exclusion of private schools, if there are groups which desire to maintain them, but exercises such supervision as will guarantee adequate standards in all schools.'

विना नहीं रहेगा। निरन्तर के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसन्धान रुक जायेंगे। स्कूल तथा विश्वविद्यालय केवल उन्हीं कामों को करते पाये जायेंगे जिनके लिए सरकार की ओर से आदेश होगा।

शिक्षा के क्षेत्र पर अनियन्त्रित अधिकार की माँग के लिए भिन्न-भिन्न विद्वानों, दार्शनिकों तथा संस्थाओं के जो तर्क ऊपर दिये गये

राज्य का उचित स्थान तथा कर्तव्य हैं उन सभी तर्कों में कुछ-न-कुछ सत्य अवश्य है। इससे यह स्पष्ट है कि सबके उचित

समन्वय में ही प्रत्येक का तथा राज्य का वाञ्छनीय स्थान भलक सकता है। व्यक्तिवादियों की बात पूर्णार्थ में मानकर राज्य का बिल्कुल तटस्थ हो जाना कभी उचित नहीं कहा जायगा। व्यक्ति अपनी-अपनी डफली अलग-अलग बजाकर समाज अथवा राष्ट्र का वास्तविक कल्याण नहीं कर सकते। न समाज अथवा राष्ट्र ही व्यक्ति को कुचलकर देश का सच्चा हित-साधन कर सकता है।

रेमॉण्ट का कथन है कि शिक्षा के क्षेत्र में राज्य का यह कर्तव्य तथा अधिकार है कि वह परिवार तथा धार्मिक संस्था के स्वत्वों की रक्षा करे। यदि परिवार के प्रयासों में अक्षमता, अयोग्यता तथा अन्य दोषों के कारण कोई कमी है तो राज्य का यह कर्तव्य है कि वह उसे पूरा कर दे। साथ-ही-साथ उसका यह भी कर्तव्य है कि राष्ट्र की चरित्र-शिक्षा अथवा धार्मिक शिक्षा के मार्ग में यदि कोई रोड़े हों तो बौद्धिक तथा धार्मिक नियमों के अनुसार उन्हें दूर करने की कोशिश करे। राष्ट्रीय सरकार को यह देखने का अधिकार अवश्य है कि जनता को नागरिकता के सारे फर्ज मालूम हैं तथा बौद्धिक तथा नैतिक संस्कृति में नागरिकों का प्रवेश किसी सीमा तक हो चुका है।*

* In the sphere of education it is the State's right and even duty, to protect the anterior right of the family and the church. Similarly, the State ought to make good any deficiency due to incapacity, unworthiness or other defect of

कोई भी राज्य कितना ही समुन्नत और व्यवस्थित क्यों न हो, राष्ट्रोपयोगी सारे कामों का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर सरलतापूर्वक नहीं ले सकता। न उसकी निरी उत्तरदायित्वहीनता अथवा तटस्थता ही अपेक्षित है और न अत्यधिक हस्तक्षेप। सत्यान्वेषण की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सांस्कृतिक उन्नयन के लिए परमावश्यक है।

राष्ट्रीय शिक्षा की देशव्यापी व्यवस्था से कोई भी सभ्य सरकार पराङ्मुख नहीं हो सकती। यह एक ध्रुव सत्य है कि राज्य को भीतरी शत्रुओं से जितना भय रहा करता है उतना बाहरी शत्रुओं से नहीं। राष्ट्र यदि सुसंगठित, सुशिक्षित और शक्ति-सम्पन्न है तो बाहरी दुश्मनों का मुकाबला भी आसान हो जाता है। हमारे भीतरी शत्रु हैं—आलस्य, अकर्मण्यता, अज्ञान, अशिक्षा, अन्धविश्वास, पक्षपात, जातीयता, प्रान्तीयता, धार्मिक कट्टरता आदि। इन शत्रुओं के वर्तमान रहते कोई भी राष्ट्र व्यवस्थित तथा वलगानी नहीं हो सकता। इसलिए, राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उचित राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था तथा उसके प्रोत्साहन का उचित प्रबन्ध करे। तभी हमारे भीतरी शत्रुओं का शमन सम्भव है।

संसार के सभी समुन्नत तथा सभ्य राज्यों ने अपना यह कर्त्तव्य मान लिया है कि वे पन्द्रह-मोलह साल की आयु तक की शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्र के सभी बच्चों के लिए करें। भारतीय विधान में भी राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया है कि तेरह-चौदह साल की आयु

parents and generally to protect, according to the rules of reason and the faith, the moral and religious education of the young by removing any public impediment. The national State can rightfully demand and ensure that the citizens have a proper knowledge of their civil and national duties, and attain a certain standard of intellectual and moral culture.

तक की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध भारतीय सरकार करे। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार प्राथमिक शिक्षा से तटस्थ नहीं रह सकती। चौदह साल तक की आयु-पर्यन्त शिक्षा माध्यमिक शिक्षा को भी किसी अंश में सम्मिलित कर लेगी। इसलिए, भारतीय सरकार माध्यमिक शिक्षा से भी अन्यमनस्क नहीं हो सकती। सरकार को यह देखना है कि न केवल प्राथमिक शिक्षा का देश भर में उचित प्रबन्ध हो, प्रत्युत् माध्यमिक शिक्षा का भी।

साधारण माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध तो सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों में होता ही है, पर माध्यमिक स्तर पर औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध अधिकांश में सरकार ही करती है और कर सकती है। भिन्न-भिन्न कला-कौशल की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध भी सरकार को ही अधिकांश में करना है।

रेडियो और फिल्म आदि के द्वारा भी सामूहिक रूप में शैक्षिक प्रबन्ध करना सरकार के लिए ही सम्भव है। स्थान-स्थान पर वाचनालय तथा पुस्तकालय का आयोजन भी अधिकांश में सरकार ही कर सकती है, अथवा इन दिशाओं में कार्य करने-वाले व्यक्ति तथा संस्थाओं को पर्याप्त सहायता करना भी सरकार का कर्त्तव्य है।

राष्ट्र के कलाकारों को विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा अन्य सहायता कर उन्हें प्रोत्साहन देना राष्ट्र की सर्वतोमुखी शैक्षिक उन्नति के लिए परमावश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भारतीय सरकार ने देशी राजवाड़ों, जमीन्दारों तथा पूँजीपतियों का प्रायः उन्मूलन ही कर डाला है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय सरकार का शैक्षिक उत्तरदायित्व बेहद बढ़ गया है। इसलिए विभिन्न कलाओं का समुचित विकास अब सरकारी कर्त्तव्य हो जाता है। देश में सौन्दर्यप्रियता की शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध भी अधिकांश में सरकार को ही करना है। इसके लिए सरकार को समय-समय पर विभिन्न स्थलों में कला-प्रदर्शनियों का आयोजन करना चाहिए !

प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर प्रौढ़-शिक्षा के लिए भी प्रबन्ध करना सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है। भारत में इस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता और भी अधिक है। यहाँ की जनता अधिकांश में अशिक्षित है। इसलिए, प्रौढ़ों की शिक्षा के अभाव में, देश बहुत वर्षों के लिए अर्धशिक्षित ही रह जायगा। उतने समय तक कोई भी सभ्य सरकार हाथ पर हाथ दिये चुप बैठी नहीं रह सकती।

शिक्षकों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था भी अधिकांश में सरकार को ही करनी है। इस दिशा में कुछ काम गैरसरकारी तौर पर भी किया जाता है, पर वह अपूर्ण ही कहा जायगा। सरकार को चाहिए कि अपने प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के लिए वह शिक्षकों की सेना का प्रबन्ध करे। आज जो हमारी माध्यमिक शिक्षा इतनी निष्प्राण दीखती है उसका एक मुख्य कारण शिक्षकों के प्रशिक्षण (training of teachers) की पर्याप्त व्यवस्था का अभाव है।

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ण प्राप्ति के लिए इस बात की भी आवश्यकता है कि शैक्षिक परिभ्रमण (educational tours) के लिए विद्यालयों को सरकार विशेष सुविधा प्रदान करे। इस सुविधा के अनेक रूप हो सकते हैं। आर्थिक सहायता, रेल-यात्रा-सम्बन्धी विशेष सुविधाएँ, दर्शनीय स्थानों में भोजन, विश्राम तथा निर्देशन-सम्बन्धी अन्यान्य सुपास आदि का उचित प्रबन्ध सरकार की ओर से होना चाहिए।

यह भी देखना सरकार का कर्त्तव्य है कि स्कूलों के मकान अच्छे और काम के लायक हों। स्कूलों के लिए खेल के मैदानों का प्रबन्ध करना भी सरकारी फर्ज के अन्दर है। राष्ट्र के बच्चों के शारीरिक विकास के लिए यह प्रबन्ध बहुत आवश्यक है। स्कूल के बच्चों की डाक्टरी परीक्षा भी, साल में एक बार, बहुत जरूरी है। यह प्रबन्ध भी अधिकांश में सरकार ही कर सकती है। कुछ लोग पुस्तकीय शिक्षा अथवा मानसिक शिक्षा को ही शिक्षा समझते हैं। यह उनका

सबसे बड़ा भ्रम है। शारीरिक तथा नैतिक विकास भी मानसिक विकास की तरह शिक्षा के अभिन्न अंग हैं। यह बात सरकार तथा शिक्षकों को सदा स्मरण रखनी चाहिए।

सरकार का यह भी कर्तव्य है कि वह चतुर, योग्य और अनुभवी विशेषज्ञों को विद्यालयों के निरीक्षक नियुक्त करे, जिनका कार्य छिद्रान्वेषण न हो। वे अपने कार्य-क्षेत्र के सभी विद्यालयों को उचित परामर्श, अपने विस्तृत तथा परिपक्व अनुभव के आधार पर, समय-समय पर देते रहें।



अध्याय ४

शिक्षा और राष्ट्रीयता

(Education & Nationalism)

Nationalism produces high temperatures, running sores, cancerous growths and outbreaks of homicidal mania.'

देशविशेष के प्रति एक विशेष प्रकार के अपनापन तथा रागात्मक सम्बन्ध को हम राष्ट्रीयता कहते हैं। भावना होने के नाते स्पष्टतः इसकी उत्पत्ति पहले मस्तिष्क में होती है। धीरे-धीरे यह भावना व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक रूप धारण करती है। कालान्तर में अधिक पुष्ट होकर यह कुछ मूर्त रूप भी धारण करती जाती है। इसी मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्ट करता हुआ कैडल कहता है कि देश में प्रचलित रस्म-रिवाज तथा ऐतिहासिक धाराएँ धीरे-धीरे देश भर की अथवा राष्ट्रीय धाराएँ बन जाती हैं। कुछ सिद्धान्त तथा विचार, जो कभी स्थानीय अथवा जातीय रहते हैं, धीरे-धीरे सामूहिक स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं और वे ही देश-भर के लोगों के सिद्धान्त तथा विचार बन जाते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है तब इन सिद्धान्तों तथा विचारों को राष्ट्रीय सिद्धान्त तथा नीति की संज्ञा दी जाती है।

जब इस प्रकार की सामूहिक भावनाओं का जन्म होता है तब व्यक्ति के मन में इसका गर्व होता है कि मैं अमुक समाज अथवा समूह का सदस्य हूँ। कुछ जातीय अथवा स्थानीय प्रतीक, राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त होने के कारण, राष्ट्रीय प्रतीक बन जाते हैं। इसी प्रकार कुछ गाने तथा कुछ पर्व-त्योहार राष्ट्रीय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आत्म के बीच की छोटी-छोटी दीवारों को गिराकर, छोटी-छोटी दलबन्धियों के स्थान में, लोग राष्ट्र का निर्माण कर पाते हैं।*

इस प्रकार की राष्ट्रीयता की भूमि में देश-प्रेम का पौधा पनपता है। अपनी जन्मभूमि से प्रेम कोई दुरी बात नहीं। विश्वसाहित्य की सुन्दरतम विभूतियाँ अपने देश के लिए आत्मोत्सर्ग करनेवाले वीरों की गाथाएँ मात्र हैं। देशप्रेम को फेंककर हम जी नहीं सकते।

राष्ट्रीयता तथा
देश-प्रेम के रूप

ये तमाम बातें ठीक हैं, पर दुर्भाग्यवश यह कल्याणकारी प्रेम कभी-कभी हिंसात्मक प्रेम का रूप भी धारण कर लेता है। उस समय हमारी दृष्टि संकुचित हो जाती है और जिस दुरी से हमारे जख्म को छटना चाहिए था वह हमारे गले पर आ बैठती है। जिस समय हमारा देश-प्रेम हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है उस समय हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नीति को ताक पर रख देते हैं और विश्व-शान्ति के विनाश का बीज बो देते हैं। 'गलत या नहीं—अपना देश' (my country right or wrong) वाली नीति इस हिंसात्मक देश-प्रेम

* The main criteria of nationality are psychological; the growth of nationalism is governed by traditions, historical perspectives, the principles and ideas shared in common, leading to pride in group membership, self-consciousness, and the adoption of symbols, holidays, songs, and ceremonials by which these are objectified. The development of nationalism has forced men out of a narrow sectionalism into membership in larger social units, and has cultivated loyalty to a state which rises above petty and selfish interests.'

का व्यक्त रूप है। इसी नीति को अपनाकर जर्मनी ने युद्ध की उस विभीषिका की सृष्टि की, जिसकी विध्वंसकारिणी लपटों में प्रायः सम्पूर्ण संसार भूलस गया और अनेकानेक देश रुधिर-प्लावित हो गये। इस प्रकार के हिंसात्मक देश-प्रेम से प्रेरित होकर हम मदमत्त हो उठते हैं। अपनी शक्ति का व्यर्थ गर्व हमारे मन में उत्पन्न हो जाता है और हम साम्राज्यवाद के समर्थक बनकर दूसरे देशों पर आक्रमण कर बैठते हैं।

इतना ही नहीं, इस प्रकार के देश-प्रेम का व्यक्त रूप कभी-कभी तो बड़ा बीभत्स हो जाता है। वही व्यक्ति, जिसका हृदय अकाल-पीड़ित पुरुषों तथा छोटे-छोटे बच्चों को मरते देखकर पिघल जाता है, युद्ध छिड़ने पर शत्रु-देश के नर-नारियों को भूख-प्यास से तड़पा-तड़पा कर उनकी सामूहिक मृत्यु के लिए उतारू हो जाता है। वही व्यक्ति, जिसकी आँखें किसी के एक बूँद रुधिर को देखकर सजल हो जाती हैं, युद्ध में लाखों-करोड़ों शत्रुओं की सामूहिक हत्या को देखकर उसी का मुख-मण्डल खिल उठता है। राष्ट्रीयता का नैतिक पतन जितना युद्ध के समय दृष्टिगत होता है उतना सम्भवतः अन्य अवसरों पर नहीं। और, ऐसे युद्धों का जन्मदाता होता है अधिकांश में वही हिंसात्मक तथा कुण्ठित देश-प्रेम।

देश-प्रेम खराब ही हो, ऐसी बात नहीं। देश-प्रेम का परम वांछनीय स्वरूप भी होता है जिसकी भाँकी हमारे प्रातःस्मरणीय राणा प्रताप और परम वन्दनीय बापू ने देखी थी। वह था इसका उदार तथा अहिंसात्मक स्वरूप। ऐसा देश-प्रेम, ऐसी राष्ट्रीयता अपने देश अथवा राष्ट्र के उत्तमोत्तम नैतिक आदर्शों की भक्ति के रूप में अभिव्यंजित होती है। नैतिक आदर्शों की ऐसी श्रद्धा तथा अन्य देशवासियों की श्रद्धा के बीच कभी संघर्ष उपस्थित नहीं होता। ऐसा देश-प्रेम विश्व-संहार में संलग्न न होकर मानव-कल्याण की प्रेरणा प्रदान करता है; संसार की सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में योगदान देता है तथा इस बात को स्वीकार करता है कि अन्य देशवासियों

को भी इन कार्यों में योगदान देने का उतना ही अधिकार है जितना हमें। इस प्रकार की राष्ट्रीयता पारस्परिक सहयोगिता तथा मैत्री को जन्म देती है और इस सामूहिक योगदान से समाज का उन्नयन होता है। इस तरह हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता एक मानसिक अवस्था है जो देश तथा समाज के उच्चतम आदर्शों के प्रति श्रद्धा के रूप में प्रस्फुटित होती है।

कभी-कभी तो राष्ट्रीयता का रूप इतना विकृत हो जाता है कि वह स्वदेश-प्रेम में अभिव्यंजित न होकर विदेशियों के प्रति घृणा तथा क्रोध में परिणत हो जाता है। इसे हम नास्त्यात्मक अवस्था कहेंगे। ऐसी परिस्थितियों में जनसाधारण की बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाती है, विचार इतने कुण्ठित हो जाते हैं और दृष्टि इतनी संकुचित हो जाती है कि स्वदेश-प्रेम का वह नास्त्यात्मक स्वरूप पहचान में नहीं आता और अस्त्यात्मक देश-प्रेम के रूप में स्वीकृत होने लगता है।

इन्हीं कारणों से कुछ लोग राष्ट्रीयता अथवा देश-प्रेम के विरोधी बन गये हैं और केवल अन्तर्राष्ट्रीयता का राग अलापते हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि राष्ट्रीयता से हम अलग नहीं हो सकते। आखिर राष्ट्रीयता कोई नवीन अथवा स्वतन्त्र वस्तु नहीं; परिर्वर्द्धित तथा संस्कृत सामाजिक भावना ही राष्ट्रीयता को जन्म देती है। मनुष्य अपने समाज से अलग नहीं हो सकता। समाज से दूर प्राणी की उन्नति प्रायः असम्भव है। कुछ विद्वानों के अनुसार व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों के उचित सामाजीकरण का नाम ही शिक्षा है। शिक्षा समाज अथवा राष्ट्र की अवहेलना नहीं कर सकती।

समाज अथवा राष्ट्र के पैसों पर चलनेवाली शिक्षा यदि हमें राष्ट्रीय उत्थान की प्रेरणा प्रदान नहीं करती और हमारे राष्ट्रीय हितों की रक्षा करती हुई राष्ट्र-निर्माण की व्यवस्था नहीं करती तो वैसी शिक्षा राष्ट्र-विरोधी शिक्षा कही जायगी।

मनुष्य की मूल प्रकृति यदि एक ओर, किसी अंश में, सामाजिक है तो दूसरी ओर वह व्यक्तिगत तथा स्वार्थपूर्ण भी है। राष्ट्र अपने विद्यालयों से यह आशा करता है कि वे मनुष्य की स्वार्थपूर्ण तथा समाज-विरोधी मूल प्रकृति का उचित मात्रा में सामाजीकरण कर दें। मनुष्य-मनुष्य के बीच में स्वार्थ की जो दीवारें खड़ी हैं उन्हें ढा दें; छोटी-छोटी दलबन्दियों के मूल में जो पारस्परिक विरोध है उसे नष्ट कर दें तथा जातीयता अथवा प्रान्तीयता को प्रश्रय देनेवाली समस्त भावनाओं की जड़ पर कुठाराघात कर दें। राष्ट्र के वास्तविक हितों की रक्षा तो तब हो पाती है जब देश शिक्षा में एक बौद्धिक वातावरण उपस्थित कर देती है जिससे जातीयता अथवा प्रान्तीयता का राष्ट्र-विरोधी रूप सबकी आँखों में स्पष्ट दीखने लगता है। जभी शिक्षा ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देती है तभी राष्ट्र सुसंगठित और सुरक्षित हो पाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था का प्रश्न कभी-कभी बड़ा पेचीला हो जाता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक राष्ट्र राष्ट्रीय शिक्षा और धर्म में अनेक धर्मावलम्बी निवास करते हैं। विभिन्न धर्म प्रायः पारस्परिक विरोध का रूप धारण कर लेते हैं। यह विरोध राष्ट्रीय एकता को नष्ट कर देता है। धर्मों के इस रूप को देखकर कुछ लोग या तो धर्मों से सम्बन्ध विच्छेद के ही समर्थक बन जाते हैं या धार्मिक शिक्षा को विद्यालयों में कोई स्थान नहीं देना चाहते। वास्तव में यदि शिक्षा हममें ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न करती है, अन्य धर्मावलम्बियों के रक्त से होली खेलना सिखाती है तथा पारस्परिक वैमनस्य के बीज बोती है तो वह शिक्षा हमारे राष्ट्र का वास्तविक हित-साधन नहीं करती।

इस स्थल पर एक बात विचारने की है। क्या धर्म-पालन में राष्ट्रीय एकता का विनाश अवश्यम्भायी है? क्या धर्म और राष्ट्रीयता में मौलिक तथा सनातन विरोध है? धर्म के पक्षपाती विद्वानों का

विचार है कि विभिन्न धर्मों में कुछ ऊपरी विरोध भले ही हों तथा कुछ साधारण सैद्धान्तिक विरोध भी क्यों न हों, पर मूल में सब धर्मों में एकता है। खेद की बात है कि लोग भ्रम में पड़कर, अथवा अज्ञान के कारण, धर्म के ऊपरी आडम्बरो को तथा पूजा-विधियों को ही धर्म का वास्तविक रूप मान लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऊपरी टीमटाम की तह में जो मौलिक सिद्धान्त हैं वे सभी धर्मों में प्रायः एक-से हुआ करते हैं। जो महत्त्व हम शरीर को दे सकते हैं और हमें देना चाहिए वह महत्त्व हम विभिन्न धर्मावलम्बियों के शरीर पर विभिन्न प्रकार के पहने जानेवाले वस्त्रों को नहीं दे सकते और न हमें देना ही चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न धर्मों के मूल में यदि सैद्धान्तिक विरोध नहीं है तो ये धर्म राष्ट्रीयता के विरोधी नहीं कहे जा सकते। यदि ये बातें अधिकांश में ठीक हैं तो मौलिक तत्त्वों अथवा सिद्धान्तों की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित रखकर भी की जा सकती है।

सदाचार की आधार-शिला की विवेचना करने पर हमें पता चलता है कि हम साधारणतः अच्छे आचरण की प्रेरणा या तो अपनी बुद्धि तथा दार्शनिक मनन द्वारा पाते हैं या अपने-अपने धर्मों से। यह प्रेरणा एक साथ ही दोनों ओर से भी हो सकती है, क्योंकि बुद्धि और धर्म में सहज विरोध ही हो, ऐसी कोई बात नहीं। यह ठीक है कि कुछ लोग धर्म को अफीम की संज्ञा प्रदान करते हैं जिसे खाकर हमारी बुद्धि मारी जाती है और उचितानुचित का हमारा सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है। सम्भवतः, कुछ व्यक्तियों के आचरण में परिलक्षित होनेवाली धर्मनिधता को देखकर ही लोग वैसा सोचते हों। यह ठीक है कि ईश्वर की सत्ता तथा उसमें विश्वास और श्रद्धा का बौद्धिक आधार हमें साधारणतः सर्वथा नहीं मिल पाता। पर, राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए किये गये आचरण तथा समाजोपयोगी

धार्मिक शिक्षा का
आवश्यकता

व्यवहारों की प्रेरणा हमें अपनी बुद्धि तथा धर्म—दोनों से एक साथ प्राप्त हो सकती है। जो क्रियाएँ धार्मिक हैं वे अधिकांश में विवेक-पूर्ण भी हैं। ऊपरी धार्मिक विरोध, जो हमें कभी-कभी दिखाई पड़ता है वह वास्तव में धार्मिक विरोध नहीं, बाह्य आडम्बरों का विरोध हुआ करता।

धार्मिक शिक्षा के समर्थन में एक बात और कही जा सकती है। ऊपर हम कह आये हैं कि सदाचरण के आधार बौद्धिक और धार्मिक दोनों ही हो सकते हैं। सामूहिक दृष्टिपात से हम पाते हैं कि इसके बुद्ध्यात्मक आधार को सम्यक् रूप में समझ पाना राष्ट्र के कुछ विद्वानों तथा बुद्धिमानों के लिए ही सम्भव है। जनसाधारण को न इतनी फुर्सत है और न इतनी मानसिक शक्ति है कि वे सदा बुद्ध्यात्मक आधार पर अपने आचरणों का रूप-निर्माण कर सकें। सच तो यह है कि हमारे अधिकांश आचरण हमारी धार्मिक संस्कृति के आधार पर ही होते चलते हैं और ऐसे कर्मों को साधारणतः सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त रहा करती है। यदि धर्म को सर्वथा तिलांजलि दे दी जाय तो सम्भवतः समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न हो जा सकती है। यदि ये तर्क किसी मानी में ठीक हैं तो धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था अनुचित नहीं कही जा सकती। धर्म-विहीन शिक्षा धर्मान्धता की समस्या का हल नहीं। हल है सद्धर्म की शिक्षा।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बौद्धिक आधार का अनुशीलन करके भी हम सदाचरण नहीं कर पाते। हमारा स्वार्थ हमारी बुद्धि को पराजित कर देता है। हम समझकर भी नासमझ की तरह आचरण करने लगते हैं। बुद्धि के अतिरिक्त यदि हममें धार्मिक भावना भी बलवती है तो हमारे पथभ्रष्ट होने की सम्भावना अवश्यमेव कम हो जाती है। इस तरह कतिपय बुद्धि-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए भी धार्मिक भावना आवश्यक हो जाती है। यह तर्क यदि ठीक है, तो राष्ट्रीय शिक्षा की योजना में धार्मिक शिक्षा का स्थान ठीक कहा जायगा।

आचरण को औचित्य की सीमा के अन्तर्गत रखने के लिए यदि धार्मिक शिक्षा आवश्यक है तो यह प्रश्न शीघ्र उठ खड़ा होता है कि उसकी पाठ्यसामग्री क्या हो। निस्सन्देह, हम धार्मिक शिक्षा का विषय धर्मों के ऊपरी आडम्बरों को धार्मिक शिक्षा का पाठ्यक्रम नहीं बना सकते। हमें तो छाया को छोड़ मूल वस्तु ग्रहण करनी है। धार्मिक रस्म-रिवाजों तथा पूजा-विधियों में इतनी पारस्परिक भिन्नता है कि इन पर जोर डालने पर अथवा इन्हें ही महत्त्व प्रदान करने पर यह परिणाम होगा कि ये ऊपरी भिन्नताएँ हमारे सामाजिक जीवन में पारस्परिक विरोध उत्पन्न कर देंगी जिससे राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति नष्ट हो जा सकती है।

सभी धर्मों के मौलिक सिद्धान्त हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के कर्तव्यों को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तों पर चलने से हमारा सामाजिक जीवन सुखमय होता है। इसलिए बाहरी टीमटाम को छोड़ यदि हम सब धर्मों में समान रूप से पाये जानेवाले तत्त्वों को ही धार्मिक शिक्षा का विषय बनायें तो इससे व्यक्ति और राष्ट्र दोनों का कल्याण सम्भव है।

हमें यह बात याद रखनी है कि धर्म के मूल तत्त्वों और सच्ची राष्ट्रीयता में विरोध नहीं। इसलिए धार्मिक शिक्षा से जब-जब राष्ट्र के हितों की हानि होती है हमें समझना चाहिए कि धार्मिक शिक्षा के विषय-निर्वाचन में हमने कहीं भूल की है। हम अपना दोष धर्म के माथे थोप दिया करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि धार्मिक शिक्षा के लिए विषय-निर्वाचन में बड़ी सहूलियत और बड़ी समझदारी से काम लिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट बनाने के लिए किसी विशेष शिक्षण-विधि की आवश्यकता नहीं। यदि घर, परिवार तथा समाज के व्यक्तियों में राष्ट्रीयता की भावना यथेष्ट मात्रा में भरी है और खासकर शिक्षालयों के शिक्षकों में राष्ट्र-प्रेम जाग्रत है तो किसी विशेष

राष्ट्रीयता और
शिक्षण-विधि

आयोजन की आवश्यकता नहीं। बालक वातावरण से जितना सीखता है उतना उपदेश अथवा आदेश से नहीं। उपदेश तथा आज्ञा के अधिक प्रयोग से तो बालकों के हृदय में प्रायः आन्तरिक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। परिवार, समाज तथा विद्यालयों के व्यवित्यों में यदि राष्ट्रीयता की भावना वर्तमान है तो वह उनके दैनिक आचरणों में अभिव्यंजित होकर रहेगी। सहज अनुकरणशीलता की प्रवृत्ति के कारण बालक के आचरण में भी वह भावना धीरे-धीरे स्वयमेव प्रवेश कर जायगी। •

राष्ट्र-प्रेमी शिक्षक अपने-अपने विषयों को पढ़ाते समय राष्ट्रीय दृष्टिकोण को विस्मृत नहीं करेंगे। प्रत्येक पाठ में वे इसका स्मरण रखेंगे कि पाठ्य-विषय का अध्यापन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हो। यह बात शिक्षक के लिए भी कष्ट-साध्य नहीं होगी, यदि उनमें राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण आप-से-आप पाठों में उतर आयगा और बच्चों के मस्तिष्क पर अनुकूल प्रभाव डाल देगा। शिक्षकों को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि बालकों का सबसे बड़ा शिक्षक उनका वातावरण है। यदि शिक्षक स्वयं राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत नहीं है तो राष्ट्रीयता को पुष्ट बनाने के लिए उनके हजार-हजार उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे। खेद की बात है कि वातावरण के इस शैक्षिक महत्त्व को न पिता-माता ही उतना समझते हैं और न शिक्षक ही।

राष्ट्रीय भावनाओं को अधिक पुष्ट करने के लिए विद्यालयों में राष्ट्रीय नेताओं की जयन्तियाँ मनाई जा सकती हैं, कुछ राष्ट्रीय पर्व मनाये जा सकते हैं और राष्ट्रीय सप्ताहों का आयोजन किया जा सकता है। इन अवसरों पर नेताओं की जीवनियाँ पढ़ी जा सकती हैं, देश-प्रेम की कविताओं का पाठ किया जा सकता है और समाज तथा राष्ट्र-सेवा के अनेकानेक कार्य शहरों और गाँवों में जाकर किये जा सकते हैं।

अध्याय ५

शिक्षा और अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण

(Education & International Understanding)

“It is the thought of little minded persons to inquire whether a man is one of ourselves or an alien.”

—*Panchtantra*

“Let us soft pedal the notion of competition between herds and encourage rather the idea and practice of co-operation within herds, not forgetting the largest herd of all—the whole human race.”

“To be democratic, therefore, nationalistic education should be inter-nationalistic as well.”

प्राचीन काल में भौगोलिक कठिनाइयों के कारण लोगों का दृष्टिकोण अधिकांश में स्थानीय अथवा राष्ट्रीय था, तथापि उस काल के साहित्य में जहाँ-तहाँ अन्तरराष्ट्रीय संदेश तथा दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होते हैं। हमारे प्राचीन भारतीय साहित्य में ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ का सिद्धान्त प्रतिपादित है। अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण की जितनी आवश्यकता अपने जीवन के हर पहलू में हम आज देख रहे हैं उतनी कदाचित् प्राचीन काल में अनुभूत नहीं हुई होगी। फिर भी, प्राचीन

अन्तरराष्ट्रीयता की
ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

साहित्य में अन्तरराष्ट्रीयता का पुट पाकर हम संभवतः इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे ऋषियों के हृदय की स्वाभाविक विशालता तथा प्रेम इसका मुख्य कारण रहा होगा। उनके हृदय से फूट पड़ने वाली प्रेम-गंगा की वेगवती धारा स्थानीय तथा राष्ट्रीय घेरों को तोड़ती हुई सारे संसार में फैल गई थी। स्थानीय निम्न आदर्शों के स्थान में उन्होंने विश्वजनीन उच्चतम आदर्शों को अपनाया था। समग्र वसुधा के मानव के साथ उन्होंने बन्धुत्व का नाता जोड़ लिया था।

आगे चलकर लोगों में सांसारिकता तथा स्वार्थ की मात्रा बढ़ती गई। हमारा दृष्टिकोण उत्तरोत्तर स्थानीय अथवा अधिक-से-अधिक राष्ट्रीय बन गया। यह परिस्थिति किसी-न-किसी रूप में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक वर्तमान रही। आज बीसवीं सदी में भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण दूर हो ही गया है।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के अभूतपूर्व तथा चमत्कारपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप मनुष्य काल तथा दूरी का दास न रहकर उनका विजेता बन बैठा है। इन आविष्कारों के सहारे हम चन्द मिनटों में कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं और संसार के सुदूर देशों की दैनिक घटनाओं का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। इनके फलस्वरूप आज दुनिया सिमट कर छोटी हो गई है। वे देश, जिनका कलतक हम नाम भी नहीं जानते थे, आज हमारे पड़ोसी बन गये हैं। हम चाहें भी तो पारस्परिक प्रभावों से अछूते नहीं रह सकते। अवस्था तो आज ऐसी उत्पन्न हो गई है कि हम किसी भी देश की घटना को उसकी राष्ट्रीय घटना नहीं कह सकते। कौन-कौन बातें आज विशुद्ध राष्ट्रीय हैं और कौन-कौन अन्तरराष्ट्रीय, कहना मुश्किल पड़ गया है।

संकुचित राष्ट्रीयता के परिणामस्वरूप पिछले दो महायुद्धों ने संसार में एक विचित्र पैशाचिक लीला की सृष्टि की। हृदय को कम्पित करनेवाले बीभत्स कांडों को देखकर मनुष्य का ध्यान विश्व-शान्ति

की ओर स्वभावतः आकर्षित हुआ। उन्हें पता चला कि संकुचित राष्ट्रीयता क्या-क्या खेल खेल सकती है। इसके दुर्गुणों का चित्रण करते हुए एक विद्वान् ने कहा कि संकुचित राष्ट्रीयता हममें वह ताप उत्पन्न कर देती है जिसकी लपट में मानव समाज भुलसने लगता है। यह मानव-शरीर को क्षत-विक्षत कर देती है, जिसका रुधिर-स्राव बन्द नहीं होता। यह वह जख्म पैदा कर देती है जो हमें मार कर ही दम लेता है और यह संकुचित राष्ट्रीयता हमारा बौद्धिक पतन इस सीमा तक कर देती है कि हम विक्षिप्त की तरह पारिवारिक हत्या पर उतारू हो जाते हैं।

विश्वयुद्ध के ऐसे विनाशकारी कांड को देखकर लोगों का दृष्टिकोण स्वभावतः अन्तरराष्ट्रीय होने लगा है और आज के युग की पुकार अन्तरराष्ट्रीयता बन गई है। आज कोई राष्ट्र अपने को ही सही रास्ते पर होने का ढोल नहीं पीट सकता। अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण को नहीं अपनाने से विश्वान्ति खतरे में पड़ जा सकती है। यह अभिज्ञान अब लोगों के मस्तिष्क में दिनानुदिन स्पष्ट होता जा रहा है। यही कारण है कि माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्तरोत्तर अधिक स्थान पाता जा रहा है।

पिछले पृष्ठों में अन्तरराष्ट्रीयता के ऐतिहासिक आधार का अध्ययन करने हुए इसकी व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकता को हम देख चुके हैं। अब हम अन्तरराष्ट्रीयता के दार्शनिक आधार का अध्ययन करना चाहते हैं।

यदि कुछ ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमें यह मालूम होगा कि मनुष्यमात्र वास्तव में एक है। दुनिया भर के भेद-उपभेद जो हमारी आँखों के सामने आते हैं वे सब-के-सब हमारे बनाये हैं—ईश्वर-कृत नहीं। निजी स्वार्थ के लिए अथवा अपनी सुविधा के लिए हमने अपने को छोटी-छोटी टोलियों अथवा टुकड़ियों में बाँट लिया है। मनुष्य-

मनुष्य के बीच हमने दीवारें उठाई थीं किसी दिन अपने-अपने आराम के लिए। संभवतः उन दीवारों से हमारा किसी अंश में हित-साधन भी हुआ होगा। पर इन दीवारों को आगे चलकर लोग अभेद्य तथा प्राकृतिक मानने लगे। आवागमन की वर्तमान सुविधा उन दिनों नहीं होने के कारण कदाचित् इसकी हानियाँ उन्हें अनुभूत भी नहीं हुई होंगी, पर आज की परिस्थिति में परिवर्तन उपस्थित हो जाने पर हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन की आवश्यकता आ पड़ी है।

खेद की बात है कि आज भी अधिकांश लोग इन भेद-प्रभेदों को ईश्वर-कृत मानते जा रहे हैं। ब्राह्मण-क्षत्रिय, अन्त्यज-अस्पृश्य, हिन्दू-मुसलमान, पारसी-ईसाई आदि भेदों को दैवी भेद माना जा रहा है। हम भूल जाते हैं कि बंगाली-विहारी, पंजाबी-महाराष्ट्री, भारतीय-पाकिस्तानी, अँगरेज-अमरीकी आदि भेद भौगोलिक तथा राजनैतिक भेद मात्र हैं। हम भूल जाते हैं कि गोरा-काला भेद अधिकांश में जलवायु तथा आर्थिक स्तर की देन है। इन भेद-प्रभेदों को प्रधानता प्रदान कर हम पारस्परिक पार्थक्य को प्रथम दे रहे हैं।

थोड़ा-सा चिन्तन यह स्पष्ट कर देता है कि संसार भर के मनुष्य एक हैं, मूलतः एक-से हैं। वही सुख-दुःख, वही प्रेम-समवेदना तथा वही स्वार्थ-परस्वार्थ, जो हमारे हृदय में तरंगित होते हैं, मानव मात्र के हृदय में भी तरंगित होते हैं। हमारी जो इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ हैं वही मानव मात्र की हैं। जिस ईश्वर ने हमें विभिन्न शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों से विभूषित किया है उमी ईश्वर ने मनुष्यमात्र को वे शक्तियाँ प्रदान की हैं। परमात्मा ने अपनी विभूतियों के वितरण में पक्षपात को प्रथम नहीं दिया। उसकी दृष्टि में विभेद नहीं। विभेद तो भ्रमवश हमारी दृष्टि में है। अपने बीच में छोटी-बड़ी अनेकानेक दीवारें हमने खड़ी की हैं, उसने नहीं। दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा भी अब तक इन भेद-प्रभेदों की पोषक रही है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि शिक्षा का रूप-निर्माण भी तो प्रचलित परिस्थिति पर आश्रित होता है।

आज की वैज्ञानिक सभ्यता में हमने अपनी आवश्यकता अपरिमित रूप में बढ़ा ली है। कभी हम भोजन, वस्त्र तथा गृहमात्र से सन्तुष्ट हो जाया करते थे। जीवन सादा था, माँगें छोटी थीं। आज ये बातें बिल्कुल बदल गई हैं। हमें तो ऐसा मालूम पड़ता है कि हम घड़ी, फाउंटेन पेन, बिजली बत्ती और पंखा, रेल, जहाज, मोटर और अनेकानेक प्रकार के यंत्रों के बिना आज सुखपूर्वक जी नहीं सकते। न केवल आवश्यकताओं की संख्या हमने बेहद बढ़ा ली है, प्रत्युत एक-एक आवश्यकता को भी काफ़ी जटिल बना लिया है। अपनी सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं में से कुछ को तो हम स्वयं बना लेते हैं, कुछ हमारे देश के लोग हमारे लिए तैयार कर देते हैं और कुछ को अन्य देशों के निवासी हमारे लिए निर्मित कर देते हैं। इस प्रकार न केवल सामाजिक तथा राष्ट्रीय निर्भरता का प्रश्न हमारे सामने आता है बल्कि अन्तरराष्ट्रीय निर्भरता का प्रश्न भी हमारे दैनिक जीवन का कठोर सत्य बन गया है। जब तक अन्तरराष्ट्रीय वस्तुओं की अपेक्षा हमें रहेगी हम अन्तरराष्ट्रीय निर्भरता से अलग नहीं हो सकते और जब तक हमें अन्तरराष्ट्रीय निर्भरता रहेगी हम अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं कर सकते और न हमारी शिक्षा ही इस दृष्टिकोण की अवहेलना कर सकती है।

प्रेम तथा समवेदना आदि नैसर्गिक गुण माने जाते हैं। प्रेम स्थानीय अथवा राष्ट्रीय घेरों में सदैव सीमित नहीं रहता। इन गुणों का वास्तविक स्वरूप विश्व-जनीन अथवा अन्तरराष्ट्रीय हुआ करता। यह और बात है कि हम स्वार्थवश या अन्य कारणों से इन दैवी गुणों के प्रदर्शन को सीमित कर जातीय या राष्ट्रीय रूप दे दें। धर्मों के अन्य मूल तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप भी अन्तरराष्ट्रीय ही है। कोई भी धर्म हमें यह नहीं सिखाता कि अमुक भौगोलिक विभाग के लोगों के साथ तुम प्रेम करो और अन्यो के साथ घृणा। कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि तुम अमुक देश अथवा राष्ट्र के निवासियों का कल्याण-साधन करो और अन्य देशवासियों का नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मों के समस्त आदेश को अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की अपेक्षा रहती है।

जिस मानीमें धर्म को अफीम कहा जाता है, संभवतः उसी मानी में संकुचित देश-प्रेम को भी अफीम की संज्ञा दी जा सकती है। संकुचित राष्ट्रीयता हमारी दृष्टि को इतनी सीमित कर देती है और उससे हमारी बुद्धि भी इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि हम विवेकशून्य व्यक्ति की तरह आचरण करने लगते हैं और उस समय हमें अपने अविवेक का अभिज्ञान भी नहीं रहता। आश्चर्य तो तब होता है जब अपने राष्ट्रीय भाइयों के प्रति जिस आचरण को हम विल्कुल निन्दित तथा गहित मानते हैं, अन्य राष्ट्र के नागरिकों के प्रति उसी आचरण को हम हर्ष और गर्व के साथ करने लग जाते हैं। अपने देश के अन्दर दुधमुँहे बच्चों को अथवा लाचार ललनाओं तथा वृद्ध व्यक्तियों को भूख से तड़पा-तड़पा कर मार डालना हमें स्वप्न में भी स्वीकार नहीं। पर युद्ध अथवा तनातनी की अवस्था में हम शत्रुओं के देश के विरुद्ध आर्थिक, व्यापारिक तथा राजनैतिक प्रतिबन्धों का समर्थन सहर्ष तथा सगर्व करने लग जाते हैं। उस समय हमें खूब पता होता है कि इन प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप उस देश में मनुष्यकृत अकाल पड़ जा सकता है और उससे हजारों-लाखों बेगुनाहों की जानें जा सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वही व्यक्ति जो साधारणतः एक अच्छा व्यक्ति गिना जा सकता है, अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण खोकर संकुचित राष्ट्रीयता के कारण, विक्षिप्त की तरह व्यवहार करने लग जाता है।

ये पैशाचिक कर्म यदि मनुष्य के लिए सम्भव हैं तो इन्हें दूर करने के लिए अथवा न्यूनातिन्यून कर देने के लिए शिक्षा-योजना में अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण रखना परमावश्यक है। जो शिक्षा मनुष्य को इस नैतिक पतन से बचा नहीं सकती, वह अधूरी ही कही जायगी। यही कारण है कि आज चारों ओर से अन्तरराष्ट्रीयता की पुकार है। महायुद्धों से त्रस्त मानव उनकी पैशाचिक लीला की पुनरावृत्ति नहीं

चाहता । विश्व-शान्ति के लिए वह अन्तरराष्ट्रीयता का दामन पकड़ना चाहता है । यही प्रेरणा उसे अपनी शिक्षा-योजना में अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण को स्थान देने के लिए विवश कर रही है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि अन्तरराष्ट्रीयता का आदर्श राष्ट्रीयता के आदर्श से महान् है, उसी प्रकार जिस प्रकार प्रान्तीयता के आदर्श से राष्ट्रीयता का आदर्श अपेक्षाकृत ऊँचा है ।
 अन्तरराष्ट्रीयता और शिक्षा का ध्येय हमारे कर्म हमारे आदर्शों से रूप ग्रहण करते हैं । हमारे आदर्श जिस परिमाण में संकुचित होते जायँगे हमारे कर्म भी उसी परिमाण में निम्न कोटि के होते जायँगे । अगर यह दलील ठीक है, तो उच्चतम आदर्शों को ग्रहण करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है ।

सामाजिक संस्था होने के कारण शिक्षालय साधारणतः समाज-स्वीकृत आदर्शों को ग्रहण कर लेते हैं । पर इतने से ही हमारे स्कूलों का फर्ज पूरा नहीं हो जाता । उन्हें तो समाज को उच्चतर आदर्शों की ओर भी ले चलना चाहिए । यदि ऐसा नहीं हो तो हमारे सामाजिक उन्नयन की प्रगति किसी सीमा तक अवरुद्ध हो जायगी । इसलिए आज हमारे विद्यालयों का कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र के नवमुवकों को, जो कल राष्ट्र के नागरिक तथा सूत्रधार होंगे, संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों से ऊपर उठा कर अन्तरराष्ट्रीय आदर्श की ओर ले जायँ । अपने विद्यार्थियों को हमें आज यह बताना है कि संकुचित देश-प्रेम के चश्मे से अपनी आँखों को ढँक कर अन्य देशवासियों की अन्तस्तम भावनाओं तथा कठिनाइयों को हम सुगमता से समझ नहीं सकते । इन बातों को नहीं समझ सकने का परिणाम यह होता है कि हममें और उनमें पारस्परिक सहानुभूति तथा सौहार्द नहीं हो पाता है, प्रत्युत पारस्परिक भ्रम तथा भय उत्पन्न हो जाता है, जिसकी सत्ता के लिए अधिकांश में कोई कारण नहीं रहता । ये ही भ्रम तथा भय सैनिक संघर्ष के कारण बन जाया करते हैं ।

अपने विद्यार्थियों को हमें आज बताना है कि मनुष्य होने के नाते संसार भर के मनुष्य एक हैं, उनकी इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ एक हैं और उनके सुख-दुःख एक हैं। ये भौगोलिक तथा राजनीतिक विभाजन कृत्रिम हैं, स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नहीं। किसी भी वस्तु का सम्यक् मूल्यांकन तब होता है जब हम प्रशस्त तथा सामूहिक दृष्टिकोण से उसकी विवेचना तथा विश्लेषण करते हैं। हमें संकुचित अथवा प्रान्तीय, जातीय या राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विभिन्न वस्तुओं तथा समस्याओं के मूल्यांकन की आदत छोड़नी चाहिए। हमें दूसरों के सम्पर्क में आकर उनके दृष्टि-बिन्दु को समझने का अभ्यास ग्रहण करना चाहिए। विचार-विनिमय भ्रम-निवारण का सबसे सुगम उपाय है।

इस दिशा में हमारे विद्यालयों का एक फर्ज और भी है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि कुछ स्वार्थी पुरुष अपना उल्लू सीधा करने के लिए प्लैटफॉर्म से लम्बी-चौड़ी स्पीचें देकर भोली-भाली जनता को गुमराह किया करते हैं। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वे समाचारपत्रों की भी सहायता लिया करते हैं। इन चीजों का नवयुवकों के मस्तिष्क पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। आज अपने देश में जो जातीयता, प्रान्तीयता तथा संकुचित राष्ट्रीयता की बीमारी फैली है, उसमें ऐसे स्वार्थी प्रचारकों का कम हाथ नहीं है। खेद की बात है कि हमारे विद्यालयों में भी ये बीमारियाँ धीरे-धीरे प्रवेश करती जा रही हैं। हमारे विद्यार्थियों के बीच बढ़ती हुई अनुशासनशून्यता का एक कारण ये बीमारियाँ भी हैं। अतः, हमारे विद्यार्थियों का आज यह कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों में स्वतंत्र चिन्तन तथा मूल्यांकन का अभ्यास डालें। वे किसी की बात को अथवा अखबारों में छपी हुई सामग्रियों को वेदवाणी न मान लें। किसी भी वस्तु अथवा समस्या पर स्वयं सोचने, समझने तथा उसके मूल्य निर्धारित करने का अभ्यास हमें अपने विद्यार्थियों में डालना चाहिए। प्राथमिक विद्यालयों में यह कार्य उतना सम्भव नहीं, क्योंकि उम्र कम होने के कारण उनकी विचार-शक्ति उस समय अपरिपक्व होती है। माध्यमिक विद्यालयों तथा कॉलेजों में

यह काम सुगमता से किया जा सकता है। पर हमारे बहुत कम ही विद्यार्थी कलिजों में जा पाते हैं। इसलिए माध्यमिक विद्यालयों का कर्तव्य इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।

हमें अपने विद्यार्थियों को यह भी बताना है कि प्रेम, मित्रता तथा सहानुभूति के लिए कोई भौगोलिक अथवा राजनैतिक सीमाएँ नहीं होतीं। अन्य राष्ट्रों के मनुष्य भी हमारे पड़ोसी और मित्र हैं, जो किसी न किसी रूप में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जब विज्ञान ने भौगोलिक दूरी खतम कर दी है, तब यह कहना कि यह हमारा पड़ोसी है और वह नहीं, बिल्कुल गलत है। वे सभी लोग हमारे भाई तथा मित्र हैं जिनके जीवन के आदर्श वही हैं, जो हमारे हैं।

बालकों के हृदय में अन्तरराष्ट्रीय चेतना के आविर्भाव के लिए किसी विशिष्ट पाठ्य-क्रम की उतनी आवश्यकता नहीं। वर्तमान

अन्तरराष्ट्रीयता
और पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम में ही कुछ परिवर्तन तथा शिक्षण-विधि से अधिकांश में काम चल जा सकता है। यदि हमारे विद्यालय अन्तरराष्ट्रीयता के

आदर्श को अपना लें और यह अच्छी तरह समझ लें कि अज्ञान ही पारस्परिक भ्रम का मूल है तो अन्तरराष्ट्रीय चेतना सहज में उत्पन्न की जा सकती है। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यदि सब लोगों को अन्य देशवालों के विषय में केवल सही-सही जानकारी हो जाय, तो प्रायः सभी अज्ञानमूलक भ्रम, अविश्वास तथा भय अनायास दूर हो जायें। आज अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस तथा चीन आदि देशों में जो पारस्परिक अविश्वास और भय फैला है उसका कारण अधिकांश में यही है कि एक को दूसरे के विषय में सही और पूरी जानकारी नहीं है।

ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि हमारे पाठ्यक्रम में अन्य देशवासियों के बारे में जानकारी पैदा करनेवाली सारी सामग्री को स्थान मिलना चाहिए। आवश्यकता है केवल वर्तमान पाठ्यक्रम में कुछ परिवर्तन की। शिक्षकों में स्वयं यदि अन्तरराष्ट्रीयता की सच्ची भाव-

नाएँ वर्तमान हैं, तो कार्य-सम्पादन में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह ठीक है कि अपने विषय की सामग्रियों को पढ़ाते समय उन्हें किसी मात्रा में अन्तरराष्ट्रीय पक्षपात से भी काम लेना होगा, पर यदि अन्तर-राष्ट्रीय चेतना अपने विद्यार्थियों में उत्पन्न करना उनका ध्येय है, तो इसमें विशेष आपत्ति नहीं।

प्राथमिक विद्यालयों में संसार के महान् व्यक्तियों की कहानियाँ पढ़ाई जा सकती हैं। उन व्यक्तियों की जीवनियाँ विशेष रूप से बताई जा सकती हैं जिनके कार्यों का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य देशों पर भी पड़ा है। इसी प्रकार प्राथमिक विद्यालयों में भौगोलिक कहानियाँ भी पढ़ाई जा सकती हैं कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के वीर तथा साहसी व्यक्तियों ने अपनी जानों को हथेली पर रख कर अनेकानेक देश तथा द्वीपपुञ्जों का पता लगाया; किस प्रकार किसी नवीन देश में जाकर वहाँ सफलतापूर्वक बस जाने के लिए उन्हें अनेक कठिनाइयों तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ा तथा किस प्रकार सुख-सुविधा के लिए प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के हेतु उन्हें उससे अनवरत युद्ध ठानना पड़ा।

अन्तरराष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने का काम माध्यमिक विद्यालयों में बहुत कुछ हो सकता है। इतिहास को राष्ट्रीय इतिहास तक ही सीमित नहीं करके विश्व-इतिहास को भी पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए। अतीत में राष्ट्र के उत्थान के लिए अथवा साम्राज्य की स्थापना के लिए अन्य देशों पर जो सैनिक आक्रमण किये गये हैं, उन पर अधिक जोर डालने की आवश्यकता नहीं। प्रत्युत इतिहास के शिक्षकों को चाहिए कि वे राष्ट्र के उन महान् व्यक्तियों की कृतियों पर अधिक प्रकाश डालें, जिन्होंने विश्व-शान्ति तथा विश्व-बन्धुत्व के लिए प्राणपण से चेष्टा की है। इस बात पर भी जोर डाला जा सकता है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों के महान् व्यक्तियों ने साहित्य तथा विज्ञान की अभूतपूर्व तथा चमत्कारपूर्ण उन्नति की,

जिनका प्रभाव किसी-न-किसी रूप में सारे मनुष्य-समाज के जीवन पर पड़ा ।

किसी विद्वान् का कथन है कि इतिहास की पाठ्य-सामग्री यदि सोच-विचार कर चुनी जाय और उसे उचित ढंग से पढ़ाया जाय, तो विद्यार्थियों को यह अच्छी तरह समझ में आ जायगा कि विश्वजनीन मानव सभ्यता तथा संस्कृति, जो आज सब की सम्पत्ति बन गई है उसके निर्माण में संसार के भिन्न-भिन्न धर्म, जाति तथा देश के लोगों ने योग-दान दिया है ।* जब हम प्राचीन सभ्यता पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें पता चलता है कि हमारी आज की सभ्यता कितनी ऊँची हो गई है । आज की दुनिया ने साहित्य, विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में आश्चर्य में डालनेवाली उन्नति की है और इस सभ्यता पर हमें नाज भी है । पर जब हम इस बात का ध्यान करते हैं कि हमने या हमारे देश ने इस सभ्यता के निर्माण में कितना योगदान दिया है तब हमें पता चलता है कि अन्य राष्ट्रों ने भी इसके निर्माण में कितना अधिक हाथ बँटाया और फलतः हम अन्य राष्ट्रों के कितने ऋणी हैं । यह भावना हमारे विद्यार्थियों में अन्तरराष्ट्रीय चेतना बहुत कुछ उत्पन्न कर सकती है । पारस्परिक निर्भरता की चेतना ही अन्तरराष्ट्रीय चेतना की जननी है ।

साहित्य के शिक्षक भी इस कार्य को किसी अंश में कर सकते हैं । साहित्य मानव-हृदय में तरंगित होनेवाली भावनाओं, हर्ष-विषाद, भय-विस्मय तथा आकांक्षाओं का दर्पण हुआ करता है । ये वस्तुएँ मानवमात्र में समानरूप से पाई जानेवाली हैं, न कि केवल देश-विशेष के मनुष्यों में । इस दृष्टि से सब देशों के साहित्य एक हैं अथवा एक-से हैं; यदि फर्क है तो केवल लिपि अथवा भाषा में ।

* "Thus, if history is taught properly and selected suitably, the student will realise how in the historical process Jews and Gentiles, Hindus and Muslims, thiests and athiests have all contributed to enrich man's common heritage."

विश्व-साहित्य के इन मूल तत्त्वों पर प्रकाश डालकर साहित्य के शिक्षक अन्तरराष्ट्रीय एकता की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। इस बात पर भी प्रकाश डाला जा सकता है कि किसी भी देश का साहित्य अन्य देशों के साहित्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही लीजिए। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि हमारी हिन्दी और इसका साहित्य फारसी, अरबी, तुर्की, अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं तथा साहित्यों से कितना प्रभावित हुआ है। इस पारस्परिक ऋण का परिचय विद्यार्थियों को साहित्य पढ़ाते समय सफलतापूर्वक कराया जा सकता है।

भूगोल का शिक्षक भी इस कार्य को बहुत सफलतापूर्वक कर सकता है। वह इस बात पर प्रकाश डाल सकता है कि भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों के जीवन पर वहाँ की जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक अवस्थाओं का कितना प्रभाव पड़ता है। किस प्रकार भिन्न-भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वहाँ के मनुष्यों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान तथा जीवन के आदर्श भिन्न-भिन्न हो जाया करते हैं। किस प्रकार किसी देश के निवासियों की विचारधारा तथा नीति वहाँ की भौगोलिक स्थिति के कारण भिन्न हो जाती है तथा किस प्रकार इन बातों का प्रभाव वहाँ के वाणिज्य-व्यापार तथा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं पर पड़ता है। पारस्परिक भिन्नताओं के मूल में बैठे हुए इन कारणों को यदि हमारे विद्यार्थी अच्छी तरह समझ लें, तो इन भिन्नताओं के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति ही उत्पन्न होगी, न कि दुश्मनी या बदगुमानी।

यह ठीक ही कहा गया है कि भूगोल यदि उचित रीति से पढ़ाया जाय तो यह विद्यार्थियों के हृदय में अन्य देश-वासियों के प्रति सौहार्द उत्पन्न कर सकता है जो अन्तरराष्ट्रीय चेतना तथा शान्ति का आधार है। उचित रीति से पढ़ाये जाने पर यह भी स्पष्ट हो सकता है कि जिस भोजन को हम करते हैं, जिस वस्त्र को पहनते हैं तथा जिन

पुस्तकों तथा कागजों को हम व्यवहार में लाते हैं उनके तैयार करने में कितने लोगों के हाथ लगे हैं। उन्हें तब समझ में आयेगा कि हम किस प्रकार एक दूसरे के लिए कार्य करते हैं और किस प्रकार मानव-जीवन सहकारी तथा सामूहिक उद्योगों पर आश्रित है। भूगोल वास्तव में एक विश्वजनीन विषय है और यदि यह उचित दृष्टिकोण से पढ़ाया जाय, तो आज के बच्चों को विश्व की नागरिकता, जो कल उन्हें प्राप्त होनेवाली है, उसके लिए प्रस्तुत करने में भूगोल कितना सहायक हो सकता है। * इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यार्थियों में अन्तर-राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने में भूगोल के शिक्षक महत्वपूर्ण तथा ठोस काम कर सकते हैं। बात यह है कि शिक्षक को अपना दृष्टिकोण प्रशस्त तथा अन्तरराष्ट्रीय बनाना चाहिए। ऐसा कर लेने पर सारे काम आप-से-आप होने लग जायेंगे।

साहित्य की तरह कला भी तंग भौगोलिक घेरों में नहीं बाँधी जा सकती। मानव-हृदय से निस्सृत होनेवाली स्वाभाविक सौन्दर्य-प्रियता की अभिव्यंजना ही कला है। यह सौन्दर्यप्रियता समान रूप से मानव-हृदय में पाई जानेवाली वस्तु है। यह और बात है कि इसकी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न हों, पर उनके मूल में प्रवाहित होनेवाले तत्त्व सभी देशों में एक-से हैं। कलाओं के क्षेत्र में इस अन्तरराष्ट्रीय अभिन्नता की ओर कला के शिक्षक अपने विद्यार्थियों का ध्यान खींच सकते हैं।

* "Geography, if rightly taught, can implant in pupils a friendly disposition for others—a disposition that is the basis of international understanding and peace. If it is taught correctly, pupils will see how many hands have contributed to the preparation of the food they eat, the clothes they wear and the books and paper they use. They will understand how we work for each other and that life is a co-operative game. Geography is a world subject, and thus, taught from the proper standpoint, can do much in preparing the child of today for the world citizenship which will be his tomorrow."

यह ठीक ही बताया गया है कि कलाओं की भाषा राष्ट्रीय नहीं, प्रस्तुत अन्तरराष्ट्रीय हुआ करती है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अन्तरराष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने के लिए किसी विशेष पाठ्यक्रम की उतनी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है, सही शिक्षक की तथा सही शिक्षण-प्रणाली की। उसी पाठ्यक्रम को भिन्न-भिन्न शिक्षक अपनी-अपनी विचार-धारा के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों से पढ़ा सकते हैं। औरंगजेब तथा शिवाजी के इतिहास को कट्टर मुस्लिम-शिक्षक भिन्न-भिन्न रूपों में पढ़ावेंगे जिनका प्रभाव हमारे विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर भिन्न-भिन्न पड़ेगा। उसी पाठ्य-सामग्री के प्रति विभिन्न शिक्षकों का विभिन्न रागात्मक सम्बन्ध उनकी शिक्षण-पद्धतियों को भिन्न-भिन्न रंगों में रंजित कर देगा।

शिक्षक इस बात को भी स्पष्ट कर दें सकते हैं कि देश-विशेष में जन्म पा जाना कोई विशेष महत्त्व की वस्तु नहीं। यह तो केवल एक आकस्मिक घटना है कि अमुक व्यक्ति इस देश में पैदा हो गया और अमुक व्यक्ति उस देश में। देश यह हो अथवा वह, सभी उसी विश्व के भौगोलिक विभागमात्र हैं और सभी किसी-न-किसी मानी में एक दूसरे पर निर्भर करते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने के लिए उपयोगी पाठ्य-क्रमान्तर्गत कार्यों की विवेचना हम ऊपर कर आये हैं। कतिपय पाठ्यविषयान्तर कार्यों (Extra-curricular Activities) के द्वारा भी अन्तरराष्ट्रीय चेतना अन्तरराष्ट्रीय चेतना और पाठ्यविषयान्तर कार्य किसी हद तक उत्पन्न की जा सकती है। इसका एकमात्र उद्देश्य है कि हमारे विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर अन्तरराष्ट्रीयता की एक गहरी छाप पड़ जाय। मन को अनुकूल साँचे में ढालना ही सबसे आवश्यक काम है। सारे अच्छे या बुरे कर्मों का उद्गम स्थान वही है। यूनेस्को (UNESCO) के विधान में यह ठीक ही बताया गया है कि यदि महायुद्धों का सूत्रपात सबसे पहले मस्तिष्क में

ही हुआ करता है, तो विश्वशान्ति की रक्षा की दीवार भी पहले मस्तिष्क में ही खड़ी की जानी चाहिए। उसे संभव करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति का प्रचार बड़े-से-बड़े पैमाने में होना चाहिए। न्याय, स्वतंत्रता तथा शान्ति का पाठ सारी मानवजाति को पढ़ाना उचित है। इन्हींसे मानवीय प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है। पारस्परिक सद्भाव तथा सहायता की भावना से प्रेरित होकर प्रत्येक राष्ट्र का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वह इस कार्य को यथासाध्य पूरा करे।*

अपने विद्यार्थियों के हृदय में अन्तरराष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित पाठ्यविषयान्तर कार्य किये जा सकते हैं:—

- १—प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय अपने यहाँ एक संयुक्त-राष्ट्र-समिति स्थापित कर सकता है। अन्तरराष्ट्रीय चेतना को पुष्ट करने के लिए यह समिति संयुक्त राष्ट्र (United Nations Organization) की स्थापना, उद्देश्य, संगठन तथा उसके कार्यों की चर्चा समय-समय पर कर सकती है और विश्व-नागरिकता की भावना अथवा मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकती है।
- २—प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय संसार भर के उन महापुरुषों की जन्म-तिथियों के अवसर पर जयन्तियाँ मना सकता है जिन्होंने विश्व-शान्ति की स्थापना में अथवा मानव-सभ्यता के परिवर्द्धन में अमूल्य योगदान किया है। इन जयन्तियों से हमारे विद्यार्थियों को यह पता चलेगा कि जिस सांस्कृतिक सम्पत्ति का वे अपने को आज अधिकारी समझते हैं

*“Since war begins in the minds of men, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed—the wide diffusion of culture and the education of humanity for justice and liberty and peace are indispensable to the dignity of man and constitute a sacred duty which all the nations must fulfil in a spirit of mutual assistance and concern.”

उसके निर्माण में संसार के अनेकानेक राष्ट्रों ने हाथ बँटाया है और परिणामस्वरूप वे सबके ऋणी हैं ।

३—माध्यमिक विद्यालय तथा कॉलेजों की ओर से आज इस बात का भी प्रोत्साहन दिया जा रहा है कि उनके विद्यार्थी विदेश के विद्यार्थियों के साथ पत्र-व्यवहार करें । उन्नत देशों में तो इस प्रकार के कार्यों में पर्याप्त प्रगति हो चुकी है, पर अपने देश में भी किसी अंश में यह कार्य आरम्भ हो चुका है ।

४—सरकारी तथा गैर-सरकारी ओर से इस बात की भी चेष्टा की जा सकती है कि हमारे कुछ विद्यार्थी प्रति वर्ष विदेशी स्कूलों में जाकर विद्याध्ययन करें और उनके हमारे यहाँ । भिन्न-भिन्न सभ्यताएँ अपनी भूमि में जितनी उत्तमता से अध्ययन की जा सकती हैं उतनी पुस्तक-पाठ से नहीं । इसलिए इस प्रकार के कार्य को भी किसी अंश तक अवश्य अग्रसर करना चाहिए । स्पष्ट है कि हमारे माध्यमिक विद्यालय अथवा कॉलेज इस कार्य को सफलतापूर्वक साधारणतया नहीं कर सकते । इसमें बाहरी सहायता की बड़ी आवश्यकता है । संभव है कि आर्थिक कठिनाइयों को देखकर राज्य की सरकार भी आनाकानी करे, पर यदि यह कार्य पारस्परिक रूप में किया जाय तो यह आर्थिक कठिनाई किसी सीमा तक कम की जा सकती है । यदि भारत-सरकार इंग्लैंड, रूस तथा अमेरिका की सरकारों के साथ इस प्रकार की व्यवस्था करे कि भारत के सौ-सौ विद्यार्थी अथवा उससे भी अधिक उन देशों में जाकर पढ़ें और वहाँ की सरकारें इन्हें सारी सुविधाएँ प्रदान करें तथा भारत की सरकार उन देशों से आए हुए विद्यार्थियों को वे सारी सुविधाएँ दे, तो आर्थिक कठिनाई बहुत-कुछ कम की जा सकती है ।

५—हम ऊपर की पंक्तियों में कह आये हैं कि अन्तरराष्ट्रीय चेतना को अपने विद्यार्थियों के मन में पुष्ट करने के कार्य

में शिक्षकों का योगदान परमावश्यक है। इसके लिए पहले शिक्षकों का दृष्टिकोण अनुकूल बनाना जरूरी है। अतः शिक्षकों को विदेश-यात्रा की सारी सुविधाएँ सरकार की ओर से दी जानी चाहिए।

६—सरकार की ओर से इस बात का भी प्रबन्ध किया जा सकता है कि प्रतिवर्ष कुछ भारतीय शिक्षक विदेशी स्कूलों और कॉलेजों में जाकर एक-दो साल के लिए अध्यापन कार्य करें और वहाँ के शिक्षक हमारे स्कूलों अथवा कॉलेजों में उसी अवधि के लिए शिक्षण-कार्य करें तो यह कार्य भी बिना अधिक कठिनाई के किया जा सकता है। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि सम्पर्क ही समवेदना का मूल है।

७—कम-से-कम बड़े-बड़े नगरों में विदेश के यात्री काफी मात्रा में प्रायः आने लग गये हैं। हमारे माध्यमिक विद्यालयों का यह कर्तव्य है कि वे इन अवसरों को हाथ से न जाने दें। नगरों में अनेक माध्यमिक स्कूल होते ही हैं। किसी-न-किसी स्कूल में इन यात्रियों को घंटे-आध-घंटे के लिए निमंत्रित कर लाने की पूरी चेष्टा की जा सकती है और निमंत्रण स्वीकृत हो जाने पर अनेक स्कूलों के शिक्षक और उच्च वर्गों के विद्यार्थी उस स्कूल में जाकर इस अवसर से लाभ उठा सकते हैं।

८—यदि प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय अपनी समय-सारिणी (time table) में एक घंटा प्रति सप्ताह अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं की विवेचना के लिए नियत कर दे तो अन्तरराष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने का काम बिना किसी भ्रंश के बहुत अंशों में किया जा सकता है। उस घंटे में सभी शिक्षक और सभी वर्गों के विद्यार्थी एकत्रित हो सकते हैं और प्रधानाध्यापक अथवा इतिहास के अध्यापक सप्ताह भर की अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं का एक आलोचनात्मक विवरण सभी

के समक्ष उपस्थित कर सकते हैं। यह विवरण मौखिक अथवा लिखित कोई भी हो सकता है। आधे समय में यह विवरण समाप्त कर दिया जा सकता है और बाकी आधे समय में शिक्षकों अथवा विद्यार्थियों की ओर से इन घटनाओं के ऊपर टीका-टिप्पणी भी उपस्थित की जा सकती है।

ऊपर के प्रस्ताव के मूल में हमारा यह विश्वास है कि अन्तरराष्ट्रीय चेतना के लिए चाहे जो भी प्रयास किये जावें सबके पहले परिचय प्राप्त करने की बात हमारे सामने आती है। जब तक अन्तरराष्ट्रीय अवस्था से परिचय नहीं होता उसके प्रति हमारी सही या गलत प्रतिक्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं की यथासंभव वास्तविक जानकारी प्राप्त करना हमारा पहला कर्त्तव्य हो जाता है।

पाठ्य-विषयान्तर कार्यों के अनुकूल और संभव कुछ स्वरूपों का निर्देश किया गया है। अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार हमारे माध्यमिक विद्यालय इस अन्तरराष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न और पुष्ट करने के लिए अन्य पाठ्य-विषयान्तर कार्यों को भी अपने हाथों में ले सकते हैं।



अध्याय ६

सामाजीकरण की संस्था के रूप में स्कूल

(School as a Socialising Agency)

“Education in the proper sense is training in the art of living.”

The School should be “laboratories in which social life, ideally conceived, is reconstructed and rehearsed.”

सामाजीकरण शब्द का उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में जहाँ-तहाँ कर आये हैं, इसलिए इसके महत्त्व को कुछ स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। जन्म के समय बच्चा स्वार्थ-सामाजिक निर्भरता जीवी हुआ करता है। पर समाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर वह जी नहीं सकता। जन्म के साथ ही उसे समाज की आवश्यकता आरम्भ हो जाती है। परिवार रूपी छोटे समाज में उसका पालन-पोषण होने लग जाता है। उस प्रथम सहवास में सामाजीकरण की क्रिया आप-से-आप आरम्भ हो जाती है। वह अशक्त शिशु घर के अन्य व्यक्तियों के सहवास के स्वरूप को देखना शुरू कर देता है। अपने परिवार के सभी सदस्यों के पारस्परिक आचार-व्यवहार की उसके ग्रहणशील मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाप पड़ती जाती है। इसकी खबर न उसे होती है न अधिकांश में उसके परिवारवाले को। तथापि परिवार की प्रायः अमिट छाप उस पर पड़ती ही जाती है

और इस प्रकार वह एक सामाजिक प्राणी बनना आरम्भ कर देता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है क्रमशः पड़ोस, मुहल्ला तथा गाँव अथवा नगर के बृहत्तर समाज में उसका प्रवेश होता जाता है। सामाजीकरण की यह क्रिया प्राकृतिक है। इस तरह हम देखते हैं कि इतना महत्वपूर्ण कार्य अनायास होता चलता है।

बच्चा जब पैदा होता है, उस समय उसमें—मैं, मेरा और मेरे लिए की ही भावना प्रधान होती है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है समाज में रहने की अनिवार्यता उसे अनुभूत होती जाती है और मैं, मेरा की भावना में परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है। सामाजिक व्यक्तियों के साथ इस भावना के कारण संघर्ष उत्पन्न होने पर वह अपनी भावना में परिवर्तन आरम्भ कर देता है। स्पष्ट है कि यह परिवर्तन सामाजीकरण की दिशा में होता है।

यदि व्यक्ति को समाज की कोई भी आवश्यकता न रहे तो कदाचित् वह अपना सम्बन्ध-विच्छेद भी उससे कर सके, पर यह प्रायः असम्भव है। मनुष्य यदि अपनी जरूरतों को ही ध्यानपूर्वक देखे तो उसे पता चलेगा कि (पद-पद) पर उसे सामाजिक देन की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह आवश्यकता है घर, भोजन और वस्त्र आदि की। इन्हें भी कोई व्यक्ति बिना समाज की सहायता के उपलब्ध नहीं कर सकता। इस स्थल पर हम समाज शब्द को उसके व्यापक अर्थ में लेते हैं और इसमें परिवार, पड़ोस, ग्राम तथा नगर के लोग भी शामिल हो जाते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि आज का आदमी केवल घर, भोजन और वस्त्र आदि की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति भर से सन्तुष्ट होनेवाला नहीं। उसे सुई, बटन, घड़ी, जूता, छाता से लेकर रेल और जहाज तक की आवश्यकता पड़ जाती है। स्पष्ट है कि जितनी वस्तुओं की हमें अपने जीवन में जरूरत होती है उनका शतांश भी हम स्वयं उत्पन्न नहीं करते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारी सामाजिक निर्भरता बिल्कुल स्पष्ट है।

इतना ही नहीं, सरकार भी एक प्रकार की सामाजिक संस्था ही है। केवल एक महीने के लिए भी यदि देश में सरकार न रहे और पुलिस तथा कचहरी काम करना बंद कर दे तो जान-माल खतरे में पड़ जाय। आये दिन लूट और चोरी शुरू हो जाय तथा जिसकी लाठी उसकी भैंसवाली नीति चारों तरफ काम में आने लगे। कोई भी आदमी ऐसी अराजकता को पसन्द नहीं कर सकता। इन बातों से भी यह स्पष्ट होता है कि हमारी सामाजिक निर्भरता बहुत दूर तक चली गई है। यही निर्भरता सामाजीकरण के महत्त्व को बताती है।

ये हुई सामाजिक आवश्यकता तथा निर्भरता की बातें। पर सामाजीकरण के प्रश्न के मूल में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इस स्थल पर हमारे समक्ष आता है। आजकल के मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि मानव-प्रकृति ही मूलतः सामाजिक है। हम अपनी आवश्यकताओं से ही प्रेरित होकर समाज की शरण में नहीं जाते, प्रत्युत हम स्वभाव से औरों के साथ रहना चाहते हैं। न केवल मनुष्य में यह प्रवृत्ति होती है, बल्कि अनेक जीवधारियों में भी। चींटी से लेकर हाथी तक में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। जीवन में अनेकानेक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति तथा पूर्ति हम समाज के अन्तर्गत ही पाते हैं। हमारा जीवन सामाजिक वातावरण में ही पूर्णता को प्राप्त करता है। समाज में निरंतर रहनेवाला व्यक्ति इसके महत्त्व को साधारणतः ध्यान में नहीं लाता, पर समाज से अलग होते ही उसका महत्त्व प्रतीत होने लगता है। व्यक्ति को समाज चाहिए और समाज को व्यक्ति।

सामाजिक जीवन लेन-देन (give and take) के सिद्धान्त के कारण संभव हो पाता है। इसीलिए, सामाजीकरण के लिए यह सिद्धान्त पहला पाठ बन जाता है। अपने सुख और संतोष के लिए यदि हमें औरों के त्याग की आवश्यकता होती है तो उसके मूल्य में हमें भी पद-पद पर आत्म-त्याग तथा आत्म-नियंत्रण आदि का आचरण करना चाहिए।

ऊपर की विवेचना के बाद सामाजीकरण का अर्थ सरल हो जाता है। इकाई से ऊपर उठकर समुदाय का सफल अंग बनाया जाना ही सामाजीकरण है। व्यक्तित्व को सामाजीकरण का अर्थ कायम रखते हुए भी व्यक्ति सामाजिक सदस्य बन सकता है। सामाजिक प्रथा, विश्वास, आदर्श तथा संस्कृतियों का रंग निरन्तर के सहवास के कारण उसे ग्रहण करना ही पड़ता है और इस तरह धीरे-धीरे, वह सामाजिक साँचे में ढल जाता है। सामाजीकरण की यह प्रक्रिया इतनी धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप में, चलती रहती है कि व्यक्ति को हठात् पता तक नहीं चलता कि वह प्रतिदिन सामाजिक साँचे में ढलता जा रहा है।

यह प्रक्रिया व्यक्ति और समाज दोनों के हित में होती है। व्यक्ति यदि सामाजिक ढाँचे के अनुरूप अपने को नहीं बनावे तो उससे पद-पद पर औरों के साथ संघर्ष होता चलेगा। संभव है, कुछ में वह सफल भी हो जावे, पर अधिकांश में उसे विफल होना ही पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में उसे क्रोध, निराशा तथा आत्म-ग्लानि होगी और उसका सारा जीवन ही अशान्त और दुःखमय हो जायगा। इसके विपरीत यदि उसके आचरण सामाजिक माँगों और आशाओं के अन्तर्गत हैं तो संघर्ष की सम्भावना अवश्य न्यूनातिन्यून हो जायगी। यही कारण है कि पार्श्ववर्त्ती वातावरण के अनुरूप अपने आचरण को बना लेने की प्रेरणा उसे स्वयमेव होती है और सामाजीकरण वह आप करने लगता है। पर समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य निकल आते हैं जिन्हें सामाजीकरण अथवा सामाजिक अनुरूपता पसन्द नहीं होती। ऐसे व्यक्ति ही सामाजिक होने अथवा समाज-विरोधी होने के कारण सामाजिक बहिष्कार के पात्र बन जाते हैं।

सामाजिक अनुरूपता को नहीं स्वीकार करनेवालों में दो प्रकार के मनुष्य हुआ करते हैं। एक तो वे होते हैं, जिनमें स्वार्थ-प्रियता अत्यधिक होती है और अपने प्रत्येक व्यवहार द्वारा अपने स्वार्थ की

तृप्ति चाहते हैं। ऐसे मनुष्य अपने समाज-विरोधी आचरणों के कारण उच्छृंखलता, अशान्ति तथा अराजकता को जन्म देते हैं और परिणाम-स्वरूप अन्त में अपने और औरों के जीवन को भी अशान्त तथा दुःखमय बना देते हैं। ऐसे असामाजिक अथवा समाजविरोधी व्यक्तियों का समाज न केवल बहिष्कार ही करता है, प्रत्युत उन्हें कारावास में डालकर सामूहिक शान्ति की रक्षा करता है। सारे चोर-बदमाश इसी श्रेणी में आते हैं।

इसके विपरीत सामाजिक अनुरूपता को नहीं ग्रहण करनेवालों में कभी-कभी ऐसे भी व्यक्ति हुआ करते हैं, जिनकी दृष्टि में सामाजिक प्रचलन, विश्वास तथा आदर्श निम्न कोटि के प्रतीत होते हैं। सामाजिक साँचे में स्वयं ढल जाने के स्थान में वे सारे समाज को ही अपने कल्पित आदर्श के साँचे में ढालदे ना चाहते हैं। सामाजिक अनुरूपता नहीं प्राप्त होने के कारण समाज इनके आचरण को भी संदेह की दृष्टि से देखने लगता है और उन्हें समाजविरोधी मानने लगता है। ऐसे ही व्यक्तियों की श्रेणी में गौतम बुद्ध, महावीर, जीजस क्राइस्ट, शंकराचार्य, मुहम्मद, कबीर तथा महात्मा गांधी आदि आते हैं। ऐसे महात्मा तथा समाज-सुधारक प्रतिभा-सम्पन्न तथा उच्चतम आदर्शों के स्वप्न देखनेवाले हुआ करते। समाजविरोधी तो इन्हें कहा ही नहीं जा सकता, तथापि सामाजीकरण का जो अर्थ साधारणतः लगाया जाता है उस अर्थ में ऐसे व्यक्तियों का सामाजीकरण नहीं हो पाता। इन असाधारण व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक अनुरूपता के अभाव में ही समाज का वास्तविक कल्याण है।

सामाजीकरण की जो सहज तथा स्वाभाविक प्रक्रियाएँ होती हैं उन्हें हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि स्कूल में पहुँचने के पहले बच्चों का सामाजीकरण किसी अंश में हो गया होता है। इस स्वाभाविक सामाजीकरण का रूप अथवा परिणाम कभी अच्छा और कभी बुरा भी, अधिकांश में बुरा ही, हुआ करता है।

सामाजीकरण
और स्कूल

मानना पड़ेगा कि जिस समाज में बच्चे का पदार्पण होता है और जहाँ उसे सामाजीकरण का पहला पाठ पढ़ाया जाता है वह समाज प्रायः एक आकस्मिक वस्तु (accident) हुआ करता। ऐसे समाज में भले तथा बुरे दोनों तत्त्व हुआ करते, अधिकांश में बुरे ही। ऐसी परिस्थिति में हमारे बच्चों का सामाजीकरण साधारणतः अच्छी दिशा में नहीं हुआ करता। पर स्कूल को एक आकस्मिक वस्तु नहीं गिना जा सकता। यह आशा की जाती है, की जानी चाहिए भी, कि स्कूल का छोटा-सा समाज एक आदर्श समाज होगा। इस समाज की सत्ता और संगठन किसी व्यवस्था, किसी आदर्श के अनुकूल किया जाता है। अतः इस छोटे से समाज को नियमानुकूल तथा व्यवस्थित करना जितना आसान है उतना बाह्य समाज को नहीं। इन बातों से स्पष्ट है कि बच्चों का सामाजीकरण जितने उत्तम ढंग से यहाँ संभव है, उतना बाहर नहीं।

यही उत्तम सामाजीकरण प्रजातंत्रोपयोगी नागरिकता के सारे आवश्यक गुण हममें उत्पन्न कर सकता है। जो व्यक्ति एक सफल सामाजिक सदस्य है वही सफल नागरिक बन सकता है। इसलिए, इस कार्य के महत्त्व में अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। फलतः, प्रत्येक विद्यालय का यह एक प्रधान कर्त्तव्य है कि सामाजीकरण का सुन्दर कार्यक्रम अपने हाथों में ले। कुछ लोग तो इस सामाजीकरण को इतना महत्त्व देते हैं कि उनकी दृष्टि में जीवन की कला में प्रवीणता प्राप्त करने का नाम ही शिक्षा है। शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी यदि हमने सफल सामाजिक जीवन व्यतीत करना नहीं सीखा तो हमारी सारी शिक्षा बेकार हो गई समझिए। समाज अपने स्कूलों से यह आशा करता है कि वे बच्चों को इस कला में प्रवीणता प्रदान करेंगे। स्कूल कोरे पुस्तकीय ज्ञान की पाठशाला नहीं, आचरण की भी पाठशाला है। इसकी उपमा उस प्रयोगशाला से दी जाती है जहाँ सामाजिक आदर्श की न केवल कल्पना की जाती है, प्रत्युत उस कल्पित आदर्श के अनुकूल इसका संगठन तथा संचालन भी किया जाता है।

जन्म के बाद से ही हमारे सीखने का क्रम आरम्भ हो जाता है और परिणामस्वरूप हमारे ज्ञान की परिधि विस्तृत होती चलती है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से हमें मालूम होता है कि इस स्वाभाविक क्रिया के कई मौलिक आधार होते हैं—उदाहरण, अनुभव, अध्ययन तथा उपदेश। अब हमें इसकी विवेचना करनी है कि इन साधनों की सहायता से हमारा सामाजीकरण किस प्रकार होता है और हमारे स्कूल किस सीमा तक इन साधनों का उपयोग कर सकते हैं।

कदाचित् दूसरों के उदाहरणों के द्वारा हम जितना सीखते हैं, उतना किसी से भी नहीं। सीखने की यह विधि स्वाभाविक है। हमारी आँखों के सामने दिन-रात आचरणों के विभिन्न नमूने आते रहते हैं। ये नमूने हमारे लिए आदर्श का काम करते हैं—भले या बुरे। इन आचरणों की प्रतिच्छाया हमारे मन तथा आचरणों पर निश्चित, यद्यपि अप्रत्यक्ष, रूप में पड़ा करती है। इस तरह धीरे-धीरे सामाजिक आदर्शों की मुहर लगते-लगते कालान्तर में हमारा पर्याप्त सामाजीकरण हो जाता है। जन्म से मृत्यु तक यह क्रिया चलती रहती है। हम सभी पारस्परिक सहवास से प्रभावित होते रहते हैं।

सामाजीकरण की दूसरी विधि है हमारे अनुभव। सामाजिक वातावरण में निरन्तर रहने के कारण हम केवल औरों को देखकर ही नहीं रह जाते, बल्कि जिन व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के हम सम्पर्क में आते हैं उनके प्रति हमारी निजी प्रतिक्रियाएँ हमारे आचरणों में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। हमारी सहज अनुकरणशीलता हमारे आचरणों को सामाजिक आचरणों के निकट पहुँचा देती है। परिणाम यह होता है कि हम कुछ वर्षों में ही सामाजिक ढाँचे में ढल जाते हैं।

ऊपर की दोनों विधियाँ परम महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य का अधिकांश सामाजीकरण इन्हीं विधियों से हुआ करता है। अब हमें इस बात की विवेचना करनी है कि हमारे विद्यालय इनके सम्बन्ध में क्या-क्या कर

सकते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्कूल एक विशेष सामाजिक संस्था है। इस नाते समाज यह आशा करता है कि वहाँ उसके बच्चों के सामने सुन्दर-से-सुन्दर उदाहरण अथवा आचरणों के आदर्श रखे जायँगे। बाहर के सामाजिक वातावरण में तो अनेकानेक अभद्र आदर्श भी वर्तमान होते हैं और परिणामस्वरूप अच्छे और बुरे दोनों आदर्शों का प्रभाव बच्चों पर पड़ा करता है। इस वातावरण पर नियंत्रण उतना संभव नहीं रहने के कारण स्कूल का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। शिक्षकों के द्वारा नियंत्रित तथा व्यवस्थित वातावरण में केवल अच्छे ही आदर्शों की आशा की जाती है। न केवल शिक्षकों के आचरणों तथा आदर्शों से विद्यार्थी प्रभावित होते हैं, प्रत्युत ऊपर के वर्गों के विद्यार्थियों के आचरण भी नवागत विद्यार्थियों के लिए नमूने बन जाते हैं। बच्चों की दृष्टि बड़ी पैनी हुआ करती। किसी स्कूल में प्रवेश होने के प्रायः एक सप्ताह के भीतर वे जान जाते हैं कि उन्हें उस स्कूल में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। अपने सहपाठियों तथा ऊपर के वर्गवाले विद्यार्थियों के आचरणों को देखकर उन्हें यह समझने में देर नहीं होती है। इस प्रकार अल्पकाल में ही उस नवागत विद्यार्थी का सामाजीकरण हो जाता है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि स्कूल का सामाजिक वातावरण हमारे सफल सामाजिक सदस्य बनने में अथवा योग्य नागरिक बनने में कितना अधिक सहायक हो सकता है। यह ठीक है कि स्कूल पहुँचने के पहले बच्चों का सामाजीकरण बहुत-कुछ हो गया रहता है, तथापि अब भी उनकी ग्रहणशीलता वर्तमान रहती है। अतएव, स्कूल के उत्तम आदर्शों का प्रभाव बहुत कुछ पड़ सकता है। यह बात शिक्षकों को ध्यान में रखने की है।

घर तथा स्कूल के वातावरण केवल आदर्शमात्र हमारे सामने उपस्थित करते हैं, पर वास्तविक सामाजीकरण तो तब आरम्भ होता है जब बच्चे उन भले अथवा बुरे आदर्शों के अनुकूल आचरण करना

आरम्भ करते हैं। इन आचरण-प्रसूत अनुभवों का उनके मन पर और भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति न केवल सामाजिक सदस्य हुआ करता, प्रसूत वह अपने राष्ट्र का एक नागरिक भी हुआ करता है। एक मानी में राष्ट्र को हम समाज का बृहत्तम स्वरूप कह सकते हैं। यदि समाज की सफल सदस्यता हमने प्राप्त कर ली है तो हमें सफल नागरिक बनने में कठिनाई नहीं होती। हमारे स्कूल इस दिशा में बड़ी सुगमता से इस कार्य को कर सकते हैं। अध्यापन कार्य को छोड़ शेष कार्यों के संचालन में विद्यार्थियों की सहायता ली जा सकती है। विद्यालय में पाठ्यविषयान्तर जितने भी कार्य हो सकते हैं उनमें प्रत्येक के लिए एक-एक समिति नियुक्त कर दी जा सकती है। इन समितियों के सदस्य से लेकर सभापति तक विद्यार्थियों को ही बनने देना चाहिए। शिक्षकों का काम है केवल परामर्श अथवा निर्देश। ये परामर्श तथा निर्देश भी बच्चों के ऊपर सदा लादना अनुचित होता है। बच्चे यदि अपनी समिति के कार्यों के संचालन में कुछ भूल भी कर बैठते हैं, तो बुरा नहीं। हम अपनी भूलों से भी कम नहीं सीखा करते, बल्कि इस प्रकार की शिक्षा बड़ी स्थूल, व्यावहारिक तथा चिरस्थायी हुआ करती। परामर्श की माँग होने पर ही बच्चों को परामर्श देना अधिक उत्तम हुआ करता। हम तैर कर ही तैरना सीख सकते हैं, उपदेश अथवा परामर्श से नहीं। यह बात सदा ध्यान में रखने की है।

यह बात भी ठीक है कि वास्तविक सामाजीकरण सामाजिक पृष्ठभूमि में सामाजिक अथवा सहकारी कर्मों के द्वारा ही अधिक सुन्दर हुआ करता। इसलिए, आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय समाज-सेवा के कुछ ऐसे कार्य-क्रमों को अपने हाथों में ले, जिनके सफल सम्पादन के लिए बच्चों को बाहर के वास्तविक समाज में भी जाने का अवसर प्राप्त हो। इस प्रकार के सेवा-कार्य से बच्चों को समाज से सम्पर्क होगा तथा उसमें उनकी अभिरुचि उत्पन्न होगी। ये कार्य-क्रम सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित

होने चाहिए। सहकारिता स्वयं सामाजीकरण का एक सुन्दर सोपान है। इसके अतिरिक्त वास्तविक समाज का सम्यक् अभिज्ञान, सम्पर्क तथा उसके लिए किये गये सेवा-कार्य सामाजीकरण के साधन कहे जा सकते हैं। इन कार्यक्रमों में गाँव अथवा नगर के चुने हुए मुहल्ले की सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा तथा विभिन्न बीमारियों से बचने के उपाय आदि विषयों पर साप्ताहिक व्याख्यान, त्योहार तथा मेलों के अवसरों पर सामाजिक सेवा के कार्य, प्राथमिक सहायता (First aid), नृत्य, संगीत तथा नाटकों का आयोजन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।*

विद्यालयों के अन्दर भी सहकारिता के सिद्धान्त पर आश्रित अनेक शैक्षिक योजनाएँ हाथ में ली जा सकती हैं। व्यक्ति के स्थान में समूह की योजना होने के कारण उनकी पूर्ति भी सामाजीकरण में सहायक हो सकती है। यही कारण है कि आजकल के अनेक शिक्षा-शास्त्री वैयक्तिक अथवा प्रतिद्वन्दितापूर्ण शैक्षिक विधियों को पसन्द नहीं करते।

सामाजीकरण के लिए स्कूल को यह भी चाहिए कि समय-समय पर शैक्षिक यात्राओं (educational tours) तथा कैम्प आदि की भी व्यवस्था करे। इन अवसरों पर ध्यान में रखने की बात यह है कि तत्सम्बन्धी सारे प्रबन्धों का उत्तरदायित्व विद्यार्थियों के कंधों पर ही सौंप दिया जाय। शिक्षकों की ओर से होनी चाहिए देखरेख भर।

* इन पाठ्यविषयान्तर कार्यों का कुछ विस्तृत विवरण हमने अध्याय २१ में किया है।

अध्याय ७

स्कूल और उसके व्यावहारिक कार्य

(The School and its activities)

“The school must go out to the community and the community must come into the school.”

— *Report of a Study by an International Team (1954)*

“It (school) has therefore a threefold duty: to explain its environment, to supply what is lacking in it, and to resist the influences in the environment which are harmful.”

— *Report of the Central Advisory Council for Education (England) 1947.*

स्पष्ट है कि स्कूल कोई स्वतंत्र संस्था नहीं। अपने पड़ोस से इसका परम स्वाभाविक सम्बन्ध है। यह और बात है कि भ्रमवश

कोई स्कूल अपने स्थानीय वातावरण से सम्बन्ध-
पड़ोस से सम्बन्ध विच्छेद कर ले। समाज के बीच स्थित,

सामाजिक पैसों से चलनेवाली तथा समाज के बच्चों से सरोकार रखनेवाली संस्था समाज की उपेक्षा नहीं कर सकती। आज जो अनेकानेक स्कूल निर्जीव दिखाई पड़ते हैं अथवा ऐसे हो गये हैं, जिनमें पड़ोस के लोगों को कोई दिलचस्पी नहीं है, उसका एक कारण यह भी है कि उनके शिक्षकों ने मासिक वेतन से सन्तोष ग्रहण कर स्थानीय समाज से नाता

तोड़ लिया है अथवा नाता जोड़ने की चेष्टा नहीं की है और अपने पाठ्यक्रम में स्थानीय इतिहास, स्थानीय भूगोल तथा अन्य स्थानीय वस्तुओं को उचित स्थान नहीं दिया है। वह स्कूल निश्चय ही असह्य है जो अपने पड़ोस के लोगों की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन तथा स्थानीय सरकारी संस्थाओं का अध्ययन नहीं करता तथा जिसकी प्रयोगशाला स्थानीय नगर, गाँव, नदी-नाले, खेत-बगीचे, वन-उपवन, मैदान अथवा पहाड़ आदि प्राकृतिक वस्तुएँ नहीं हैं। हम चाहे अपना सम्बन्ध उनसे भले ही तोड़ लें, पर उनका प्रभाव किसी-न-किसी रूप में हमारे जीवन पर, हमारी संस्थाओं पर पड़ता ही रहेगा।

आजकल हमारी शिक्षा पर प्रधान दोष यह आरोपित किया जा रहा है कि यह कोरी पुस्तकीय शिक्षा बन गई है अथवा जीवन से

शैक्षिक महत्त्व

जुड़ी हुई नहीं है। उसका कारण यही है कि समाज और उन्मुक्त प्रकृति इन दोनों

स्वाभाविक तथा उपयोगी पुस्तकों को पढ़ना हमारे बच्चों ने वन्द कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी शिक्षा आज अधिकांश में असह्य बन गई है। हम भूल जाते हैं कि पार्श्ववर्त्ती समाज और स्थानीय भौगोलिक वातावरण स्कूलों में पढ़ाये जानेवाले अधिकांश विषयों के सुन्दर आधार बन सकते हैं और इस आधार-शिला पर स्थित ज्ञान ही सत्य, सनातन तथा सुन्दर हो सकता है।

हमारे पुराने स्कूलों के इन्हीं दोषों को देखकर इनके विरोध स्वरूप देश में वेसिक शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। आज की वेसिक शिक्षा के तीन प्रमुख शिक्षा-माध्यमों में से ये ही दो माध्यम हैं—स्थानीय समाज तथा स्थानीय भौगोलिक वातावरण।

हमारा विश्वास है कि स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली तमाम बातें यदि पूरी नहीं, तो अधिकांश में इन माध्यमों से अवश्य पढ़ाई जा सकती हैं। आवश्यकता है केवल शिक्षकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन की, सूक्ष्म और संकल्प की।

कभी-कभी इन माध्यमों के शैक्षिक महत्त्व पर यह आक्षेप लाया जाता है कि स्कूल के सभी विषयों के सभी भाग इन माध्यमों के आधार पर पढ़ाये नहीं जा सकते। विचार करने पर कदाचित् यह पता चलेगा कि यह आक्षेप वास्तविक होने की अपेक्षा कल्पित अधिक है। हम परम्परागत रूढ़ियों में संभवतः इतने डूब गये हैं कि परिवर्तन के नाममात्र से हमें भय होता है। कुछ ऐसा असत्य तथा निर्मूल विश्वास मन में बैठ गया है कि पढ़ाने की प्रणाली कोई दूसरी अच्छी हो ही नहीं सकती अथवा उससे पाठ्यक्रम (syllabus) पूरा नहीं हो सकता। बिल्कुल बे सिर-पैर की ये बातें हैं। या तो हमने अपनी रूढ़ियों को छोड़ने का प्रयत्न ही नहीं किया है, अथवा सच्ची लगन तथा संकल्प से सामाजिक तथा भौगोलिक आधारों पर आश्रित शिक्षण-प्रणाली का प्रयोग नहीं किया है। प्रयोग के पहले दोषारोपण करना अनुचित ही कहा जायगा।

शिक्षाशास्त्री हमें बताते हैं कि स्कूल का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह बच्चों को अपने पार्श्ववर्त्ती वातावरण से परिचित कराने में सहायता दे ताकि यह उनके ज्ञान का प्रबल तथा प्रमुख अंग बन जाय।* सच पूछें तो परिचय मात्र से कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। जब तक स्थानीय वातावरण के पीछे क्यों तथा किसलिए आदि जो प्रश्न हैं, उनका उत्तर हमें भली-भाँति मालूम नहीं हो जाता, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि हमने अपने पड़ोस को समझने का कर्त्तव्य पूरा कर लिया।

पिछले पृष्ठ में हम कह आये हैं कि बाह्य समाज यदि एक आकस्मिक वस्तु है तो स्कूल एक निश्चित, व्यवस्थित तथा नियंत्रित

*“The school's first duty is to help them (children) to realise what lies around them in such a way that it becomes an effective part of their knowledge.”

समाज है। रूप इसका छोटा चाहे जितना भी हो, पर इसे एक आदर्श समाज के रूप में बाह्य समाज के समक्ष रखा जा सकता है। बाह्य समाज में जो दोष हैं उनसे हम इसको अधिकांश में मुक्त करा सकते हैं, तथा बाहर जो अभाव है वह इस छोटे से आदर्श समाज में पूरा किया जा सकता है। स्कूल के भीतर छोटी-छोटी अनेकानेक बातें हैं जो सुन्दर तथा आदर्श स्वरूप धारण कर सकती हैं। शिक्षकों का आपसी व्यवहार, शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के बीच का व्यवहार तथा विद्यार्थियों में भी पारस्परिक व्यवहार भद्र तथा सुन्दर बनाये जा सकते हैं। स्कूल का हाता, उसकी वाटिका, मकान और कमरे स्वच्छता तथा सुन्दरता की दृष्टि से स्थानीय समाज के लिए आदर्श बन सकते हैं। हमारे विद्यार्थी उन कामों को बड़ी सुगमता तथा सफलता से कर सकते हैं। इंग्लैंड में हमने कई स्कूलों में स्वयं विद्यार्थियों के बनाये कई छोटे-छोटे मकान देखे।

ऐसे ही कर्मों के द्वारा हममें शारीरिक श्रम तथा श्रमदान के प्रति सच्ची निष्ठा उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार के श्रमदान में केवल समाज-सेवा ही नहीं है, अपितु हमारे ज्ञान की वास्तविकता तथा व्यावहारिकता भी है। जो लोग इस प्रकार के काम की तुलना वेतन भोगी श्रमजीवियों के काम से करते हैं वे इसके शैक्षिक महत्त्व को बिल्कुल नहीं समझते। ज्ञान के द्वार केवल पुस्तक ही नहीं हैं।

इतना ही नहीं, नेतृत्व, आज्ञा-पालन, सहकारिता, नियम-पालन, प्रेमपूर्ण तथा शान्तिपूर्ण सहवास, सचाई तथा समय की पाबन्दी आदि समाजोपयोगी गुणों के आदर्श तथा व्यावहारिक स्वरूप अपने निकटवर्ती समाज के सामने रखे जा सकते हैं। सदाचार की शिक्षा वही यथार्थ तथा सफल होती है जो व्यावहारिक होती है। पुस्तकीय ज्ञान अथवा उपदेश से चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव भी है।

इस तरह हमारे स्कूल का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि सामाजिक जीवन के सभी सुन्दर आदर्शों को स्थानीय समाज के सामने रखकर उसे तदनु रूप बनने की आवश्यक प्रेरणा प्रदान करे। इन कार्यों के परिमाण तथा व्यापकता के महत्त्व को हम तभी समझ सकते हैं जब हम इस बात को ध्यान में लावें कि यदि हमारे सभी स्कूल ऐसे आदर्श अपने-अपने निकटवर्त्ती समाज के समक्ष रखना आरम्भ कर दें तो एक साथ ही हमारे देश में लाखों सुन्दर नमूने लोगों की आँखों के सामने आ जायें। स्पष्ट है कि सारे समाज-सुधारक तथा राजनैतिक नेताओं के शब्दिक व्याख्यान और उपदेशों का वह प्रभाव हरगिज नहीं होगा जो स्कूलों से आए हुए इन मूक, पर सबल और सजीव, आदर्शों का होगा। यदि समाज-सेवा और लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर हम अपने विद्यालयों के भीतर आदर्श समाज का निर्माण न भी करें तो भी अपनी ही भलाई के लिए, अपने ही विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण के लिए हम शिक्षकों को ऐसा अवश्य करना चाहिए।

स्कूल का अपने पड़ोस के प्रति तीसरा कर्त्तव्य, जिसका स्कूल के पाठ्यक्रम से उतना सम्बन्ध नहीं है, पर जो सारे विद्यार्थी-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि हम वातावरण के उन प्रभावों से बचने की चेष्टा करें जो हानिकारक हैं तथा जो कालान्तर में दूर हो सकनेवाले हैं।*

पड़ोस की जितनी भी चीजें हैं सभी का पाठ्यक्रम के भिन्न-भिन्न विषयों में शामिल होना बहुत आवश्यक है। गाँवों के विद्यालयों में ग्रामीण जीवन की सभी उपयोगी वस्तुओं का सुन्दर और स्पष्ट अध्ययन होना चाहिए। खेत, खलिहान, मवेशी, बीज, खाद, सिंचाई, सड़क, मकान, सफाई, रोशनी, धार्मिक स्थान तथा संस्थाएँ, ग्रामीण उद्योग

पाठ्यक्रम
और पड़ोस

* "The third duty, less easy to relate specifically to the school curriculum, but important to the whole way of life of the school, is that of resisting those influences in the environment which are harmful and which are capable of being in course of time removed."

तथा व्यवसाय, रस्म-रिवाज, विश्वास तथा रुढ़ियाँ, शादी-व्याह, मेले-तमाशे, हाट-बाजार तथा पर्व-त्योहार आदि तमाम चीजों को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। इन वस्तुओं का अध्ययन पुस्तकों के ही सहारे होने से इस कार्य का उद्देश्य अधिकांश में नष्ट हो जा सकता है। आवश्यकता है न केवल इनके परिचय मात्र की, वरन् उन्हें अच्छी तरह समझने की, उनके गुण-दोष को परखने की, उनमें सुधार की संभावना देखने की और यथासाध्य सुधार भी कर देने की। ये काम पुस्तकों से पूरे नहीं हो सकते। इनके लिए स्कूल को समाज में जाना पड़ेगा और समाज को स्कूल में लाना पड़ेगा। ऊपर दी हुई सूची की प्रायः सभी वस्तुओं को हमारे ग्रामीण बच्चे देखते हैं—केवल देखते ही हैं, समझते नहीं; गुण-दोष की समीक्षा नहीं कर पाते, और न कोई सुधार-कार्य ही करते। इन्हीं कामों को उचित रूप में करने पर उनका शैक्षिक महत्त्व होता है, वरना देखता तो हर कोई हर चीज को है। इसी शैक्षिक उपयोगिता को प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है स्कूलों की।

पढ़ोस की वस्तुओं की जो सूची ऊपर दी गई है उनका शैक्षिक महत्त्व न केवल साध्य के रूप में है, प्रत्युत साधन के रूप में भी। पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों की पढ़ाई यदि यथार्थ, व्यावहारिक, सजीव और रुचिकर बनानी हो तो इन्हीं साधनों से वह संभव है। अतः जो स्कूल अपने पढ़ोस की उपेक्षा करता है वह स्कूल असत्य है, उसकी पढ़ाई असत्य है, तथा उसका प्रमाणपत्र असत्य है।

जबतक हमारे बच्चे अपने पढ़ोस से वास्तविक सम्पर्क नहीं प्राप्त करते तथा उनका वैज्ञानिक अध्ययन नहीं कर पाते, तब तक उनमें अपने पढ़ोस के प्रति वास्तविक सहानुभूति तथा सच्चा अनुराग नहीं उत्पन्न हो सकता। पुस्तक-मात्र के अध्ययन से उदासीनता ही अधिकांश में उत्पन्न हो सकती है, अनुरक्ति नहीं। इस स्थल पर हमारे शिक्षकों को यह बात याद रखनी है कि हमारे बच्चों में से अधिकांश बच्चे स्कूलों से निकलकर उसी ग्रामीण वातावरण में लौट कर स्थान ग्रहण करेंगे।

ऐसी परिस्थिति में उसका वास्तविक वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक ज्ञान वृत्तों को नहीं देना कितना हानिकारक है, यह बिल्कुल स्पष्ट है।

व्यावहारिक ज्ञान के विषय में जितनी बातें ऊपर कही गई हैं, उनका यह अभिप्राय हरगिज नहीं कि पुस्तकें व्यर्थ की वस्तुएँ हैं और स्कूलों से उन्हें दूर फेंक देने की आवश्यकता है। उनके बिना हमारा ज्ञान अधूरा और कष्टसाध्य हो जायगा। पुरुष और प्रकृति के सनातन संघर्ष तथा प्रतिक्रियाओं की वे ऐतिहासिक निधि हैं।

आज बारह-चौदह साल का बच्चा बहुत सारी बातें सुगमता से जान सकता है, जिनका पता सुकरात तक को न था। विज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा राजनीति की बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ तथा उनके ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त हम पुस्तकों से ही अल्प काल में प्राप्त कर लेते हैं। पुस्तकों को छोड़ देने पर हम सभ्यता के क्रम में बहुत पीछे पड़ जायेंगे। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें दूर फेंकने की कल्पना नहीं कर सकता। ऊपर के तर्कों से यह स्पष्ट है कि वास्तविक आवश्यकता है पुस्तकीय तथा व्यावहारिक ज्ञानों के बीच उचित सन्तुलन उपस्थित करने की, न कि एक को छोड़ केवल दूसरे को पकड़ने की।

नगरों में स्थित स्कूलों के पाठ्यक्रम का चित्र स्वभावतः कुछ परिवर्तित होगा। हमारे ग्रामों का वातावरण प्रायः प्राकृतिक ही होता है। मनुष्य के हाथ की छाप ग्रामीण वस्तुओं पर कम पड़ी होती है, पर नगरों में वस्तुओं का प्राकृतिक स्वरूप प्रायः नष्ट हो गया होता है। ऊँचे-ऊँचे मकान, बड़े-बड़े कल-कारखाने, रिक्शे, मोटर तथा रेलगाड़ियों की निरन्तर की दौड़, चकाचौध पैदा करनेवाली वस्तियाँ, दुकानें, वस्त्र तथा आभूषण, बड़े-बड़े अस्पताल, कालेज तथा कार्यालय और अनगिनत मनुष्यों की भीड़ आदि चीजें लोगों की आँखों में प्राकृतिक चित्र आने नहीं देती। सारे वातावरण से कृत्रिमता की गंध आती रहती है। ठीक है, पर साथ ही साथ ये वस्तुएँ हमें यह भी बताती हैं कि मनुष्य ने प्रकृति पर किस सीमा तक विजय प्राप्त की है, कहाँ तक प्राकृतिक बर्बरता तथा प्रकोप पर मानव आधिपत्य स्थापित

हो चुका है और कहाँ तक मनुष्य ने नदी-नाले, पहाड़, जंगल तथा दूरी को अपने अधिकार में किया है और वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता की वृद्धि की है।

नगर के स्कूलों के पाठ्यक्रम में इन सभी वस्तुओं के सम्यक् अध्ययन को सम्मिलित करना चाहिए। हमारा अध्ययन तभी पूरा होता है जब इन चीजों के परिचय-मात्र से हम सन्तुष्ट नहीं होते, किन्तु उनके गुण-दोष तथा रहस्यों को समझने की चेष्टा करते हैं। इन वस्तुओं का शैक्षिक महत्त्व इनके रहस्योद्घाटन में ही है।

नगरों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर एक बृहत् मानव-समुदाय से सम्पर्क संभव है। मानना पड़ेगा कि मनुष्य की सबसे बड़ी पुस्तक मनुष्य ही है। नगरों में साधारणतः भिन्न-भिन्न सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति, आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों का एक अपार जमघट लगा रहता है। इनके सम्पर्क का शैक्षिक महत्त्व असीम है। जो माध्यमिक विद्यालय अपने बच्चों को अनेकानेक महान् व्यक्तियों के सम्पर्क में नहीं लाता, उसके कार्य में एक बड़ा अभाव रह जाता है। पाठ्यक्रम को इससे उदामीन नहीं होना चाहिए। भिन्न-भिन्न विचारधारा के महान् व्यक्तियों को विद्यालय में आमन्त्रित करने का एक भी अवसर खोना नहीं चाहिए तथा विद्यार्थियों को स्कूल से बाहर ले जाकर उनके सम्पर्क में लाना भी चाहिए। कहा जाता है कि सामाजिक गुण और बौद्धिक विकास मस्तिष्कों के पारस्परिक सम्पर्क के परिणाम होते हैं और इनका परिष्कार और परिवर्द्धन गुण-दोष की सतत विवेचना से होता है। सारी सभ्य जातियों में जो सर्वोत्तम वस्तुएँ हैं वे इसी उच्चतम विवेचना से उत्पन्न हैं।^{*}

* "Social qualities and intellectual awareness are born of the contact of mind with mind, and are refined by the constant exercise of discrimination, which at its highest produces what is best in all highly civilized communities.

आवश्यकता इस बात की भी है कि गाँव के विद्यार्थियों को इस बात का परिचय दिया जाय कि नगरों में जीवन का क्या स्वरूप हुआ करता है और नगर के विद्यार्थियों को ग्रामीण जीवन का । वास्तविक ज्ञान सापेक्ष हुआ करता है । किसी भी वस्तु का ठीक मूल्यांकन तभी हो पाता है जब उसे हम अन्य वस्तुओं के बीच रखकर उस पर तुलनात्मक और विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं । यही नहीं, यह मान लेना भी गलत होगा कि ग्रामों के सभी बच्चे ग्रामों में ही रह जायेंगे और शहरों के शहर में । इसलिए भी एक को दूसरे का ज्ञान आवश्यक है । पाठ्यक्रम बनाते समय यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए ।



अध्याय ८

स्कूल और समाज

(School and Society)

“The most important asset of youth in helping to make a new start in society is that, apart from its greater spirit of adventure, it is not yet completely involved in the status quo of the social order.”

—*Karl Mannheim.*

“It (school) is to complete and consolidate changes in social policy when they have been decided upon whether by bullets or ballots.”

“The ideal way however of fostering in a child the right spirit is to provide him with opportunities of doing corporate service for other people.”

—*Report of the Central Advisory Council for Education (England)*

“Change in society has stimulated change in the schools. Society has moved so fast that it has pulled the rug from under schools which have remained still—cast in the mould of other centuries.”

—*Mort and Vincent.*

एक सामाजिक संस्था होने के नाते स्कूल को सामाजिक क्षेत्र में भी कुछ कार्य करने हैं। स्पष्ट है कि ये कार्य केवल समाज-सेवा की दृष्टि से नहीं चुने जा सकते, किन्तु उनके शैक्षिक महत्व की दृष्टि से भी। इन कार्यों की रूप-रेखा स्थिर करने के पूर्व सामाजिक परिवर्तनशीलता भी ध्यान में रखनी चाहिए, क्योंकि इस परिवर्तनशीलता के प्रति भी हमारी शिक्षा का कुछ कर्त्तव्य है।

कठोर, छद्मवादिता भी अत्यम्भावी परिवर्तनशीलता के समक्ष नतशिर हो जाती है, कम चाहे जितना भी कम क्यों न हो। वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने न केवल विज्ञान के संसार में क्रान्ति उत्पन्न की है, प्रत्युत सभी क्षेत्रों में—क्या सामाजिक, क्या धार्मिक अथवा आर्थिक। चिकित्सा, स्वास्थ्य, यातायात तथा उद्योग आदि सभी चीजों के स्वरूप में आज क्रान्तिकारी रूपान्तर हो गया है। पुराने साधनों के स्थान में समाज नये साधनों को ग्रहण करता जा रहा है।

इस परिवर्तनशीलता के प्रति शिक्षा उदासीन नहीं रह सकती। शिक्षा का उद्देश्य तब पूरा होता है, जब इस परिवर्तनशीलता को वह एक निश्चित आदर्श की ओर ले चलती है। विज्ञान में अपरिमित शक्ति है, पर वह शक्ति अंधी है। वह समाज को पूर्ण विनाश की ओर ले जा सकती है अथवा उत्थान के उच्चतम शिखर पर। विज्ञान यदि मानव-कल्याण के लिए अणु-शक्ति दे सकता है, तो समस्त मानव जाति के सामूहिक संहार के लिए अणुबम भी। विज्ञान हमें नहीं बताता कि इस शक्ति का प्रयोग हमें किन-किन कामों में करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा का यह भी कर्त्तव्य हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन को मानव-कल्याण की दिशा में ले जाय।

शिक्षा का यह एक प्रधान कर्त्तव्य है कि जातीय जीवन की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करे। जिस सभ्यता का निर्माण मानव

शिक्षा और सांस्कृतिक संरक्षण

जाति ने हजारों-लाखों वर्ष के संघर्ष के परिणामस्वरूप किया, वह एकाएक नष्ट न होकर बाद की पीढ़ी को प्राप्त हो जाय, यह इच्छा मानव-हृदय में स्वाभाविक है। प्राचीन काल तथा मध्य युगों में हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई सभी की एक-मात्र इच्छा यही रहा करती थी कि उनकी सामाजिक तथा धार्मिक संस्कृति नष्ट न हो जाय। इन्हीं कारणों से मन्दिर, मस्जिद तथा गिरजों में स्कूलों की व्यवस्था की जाती थी। आज स्कूलों के केवल स्थान बदल गये हैं, पर आज भी समाज अपने स्कूलों से इस कार्य को कराता है। आवश्यक भी है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समाज ने जो उन्नति की है, उसके आधारस्वरूप संचित ज्ञान-भण्डार को आनेवाली पीढ़ियों को समर्पित करना निस्सन्देह समाज का कर्त्तव्य हो जाता है और वह अपनी शैक्षिक संस्थाओं से यह आशा करता है कि वे सांस्कृतिक संरक्षण के इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सफलतापूर्वक करेंगी।

शिक्षा के द्वारा समाज अपनी मौलिक सामाजिक अनुरूपता प्राप्त करता है और अपने परम्परागत जीवन के स्वरूप को निश्चित कर लेता है। परिणाम यह होता है कि वैयक्तिक विभिन्नता के रहते हुए भी जातीय एकरूपता बनी रहती है। पर समाज के सांस्कृतिक वातावरण में ऐसे भी तत्त्व होते हैं जो भले नहीं कहे जा सकते और जिन्हें कोई भी समाज आनेवाली पीढ़ी को देना नहीं चाहेगा। अतः शिक्षा का यह भी कर्त्तव्य है कि वातावरण के गुण-दोष की द्यानवीन करे और बुरे तत्त्वों से बच्चों को बचावे। यद्यपि यह ठीक है कि समाज अपनी शैक्षिक संस्था द्वारा अपनी जातीय एकरूपता स्थायी बनाता है, तथापि उसका अर्थ यह नहीं कि वह इसे बनाये रखने के लिए गुण-दोष का विश्लेषण न करे। सच पूछें तो जानीय एकरूपता संभव करने के लिए अन्य सामाजिक संस्थाएँ हैं ही। घर, मुहल्ला, गाँव तथा नगर आदि में रहने मात्र से हम अनायास एकरूपता प्राप्त कर लेते हैं। विभिन्न सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक

समितियाँ तथा संस्थाएँ भी यह कार्य करती रहती हैं, पर स्कूलों से यह आशा की जाती है कि आनेवाली पीढ़ी को वे सांस्कृतिक वातावरण के उत्तम तत्त्वों को ही प्रदान करेंगे।

शिक्षा का सामाजिक कार्य इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। हमारी सभ्यता में जो गुण हैं उनका संरक्षण और जो दोष हैं उनका निराकरण तो महत्वपूर्ण है ही, पर हमारी शिक्षा को सांस्कृतिक निर्माण का कार्य भी करना है। सांस्कृतिक संरक्षण तो रेडियो, सिनेमा, तथा समाचारपत्र आदि भी करते हैं, लेकिन शिक्षा को हमारे जीवन के स्वरूप के नव-निर्माण में भी सहायता करनी है, अर्थात् स्वास्थ्य, अवकाश, व्यवसाय तथा गृह-जीवन के क्षेत्रों में इसे नवीन सामाजिक आदर्श खड़े करने हैं। यह नव-निर्माण परमावश्यक हो गया है, क्योंकि वैज्ञानिक विकास और औद्योगीकरण के कारण युग-मर्यादित जीवन के ढाँचे, क्या शहरों के, क्या देहातों के, आज विचलित हो गये हैं। *

ऐसा देखा जाता है कि कालान्तर में सामाजिक जीवन में तरह-तरह की रूढ़ियाँ आ जाती हैं, जिनका उन्मूलन आवश्यक हो जाता है। संभव है कि जिन्हें हम आज रूढ़ियों की संज्ञा प्रदान करते हैं वे किसी समय आवश्यक चलन रही हों, पर कालान्तर में वातावरण के अन्यान्य तत्त्वों के परिवर्तित हो जाने के कारण वे चलन अब बेमेल दिखाई पड़ते हों और रूढ़ियों के नाम से पुकारे जाते हों। जो भी हो, यदि उनकी उपयोगिता आज नष्ट हो गई है अथवा अब जिनकी सत्ता के

*“But education is not only to transmit the past cultural heritage, it is to help in the process of reconstruction of our modes of living—i. e. it is to develop new social patterns in such areas as health, leisure, vocation and home life. The reconstruction is imperative because of the scientific development and industrialisation which are disturbing the urban as well as the rural patterns of living, established for centuries.”

बौद्धिक आधार नहीं मिलते हों, वे अवश्य त्याज्य कहे जायेंगे। शिक्षा का कर्तव्य है कि उन प्रचलनों के खोखलेपन को स्पष्ट कर दे, ताकि उनका अनुसरण अनुचित दिखाई पड़ने लग जाय।

विभिन्न कारणों से समाज में तरह-तरह के अन्धविश्वास चल पड़ते हैं। यात्रा, विवाह तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के आरम्भ के लिए शुभ मुहूर्तों की खोज के कारण अनेक सुन्दर अवसर खो दिये जाते हैं। इतिहास हमारा साक्षी है कि हमने इन्हीं मुहूर्तों में विश्वास के कारण कई युद्धों में पराजय तक मोल ले ली है। ये परम्परागत विश्वास वचपन में ही हमारी नसों में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे पढ़-लिख जाने पर भी हमारा पिंड नहीं छोड़ते। इन अंधविश्वासों के कारण समाज की कितनी हानियाँ हो चुकी हैं और हो रही हैं, वे स्पष्ट ही हैं। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि इनकी निस्मरता को प्रत्यक्ष कर दे।

कोई भी समाज यह अवश्य चाहेगा कि वह उत्तरोत्तर उत्थानोन्मुख हो, पर यह अविद्या और अज्ञान के अभाव में ही संभव है। स्कूल एक नियंत्रित तथा सुव्यवस्थित समाज होने के कारण बाह्य समाज के लिए सुन्दर-से-सुन्दर नमूना बन सकता है और समीपवर्ती ग्राम अथवा नगर के लिए एक जीता-जागता स्थूल आदर्श हो सकता है। रुढ़ि-जर्जर समाज के लिए हमारे स्कूल बलवती प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं। सामाजिक उत्थान के लिए यदि हमारे स्कूल कोई सक्रिय प्रयत्न न भी करें, तो भी सुन्दर आदर्शों का सामीप्य ही समाज को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता।

छोटा ही सही, पर स्कूल को एक ऐसा आदर्श समाज बनाना ही चाहिए, जिसमें सक्रियता, सद्भाव तथा सहकारिता आदि का साम्राज्य हो; जिसमें अन्याय, अत्याचार, जातीयता, प्रान्तीयता, भाषान्धता, धर्मान्धता, हिंसा, असत्य तथा शोषण आदि दूषणों की छाया तक न हो।

यह बात अवश्य मानी जायगी कि स्कूलों की इस इच्छा और तदनुकूल कार्य के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ अनुभूत होंगी। बाह्य समाज के दूषित वातावरण में यह कार्य और भी कष्टसाध्य हो जाता

है। ऐसी परिस्थिति में कठिनाई यह उत्पन्न हो जाती है कि स्कूल तथा समाज, जिनके बीच में बच्चों को रहना है, उन दोनों के प्रतिकूल प्रभाव में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और सफलता की गति मंद तो अवश्य पड़ जाती है। पर वर्तमान परिस्थिति में कोई चारा नहीं। हमें काँटों के बीच चलकर गुलाब चयन करना है। बस चाहिए इच्छा और संकल्प।

मैद्वान्तिक तथा पुस्तकीय ज्ञान की महत्ता अपनी जगह पर है ही, पर सामाजिक कार्यों का सामाजिक तथा शैक्षिक मूल्य भी किसी प्रकार कम नहीं है। बच्चों की शिक्षा में अथवा स्कूल की शिक्षा में इन कार्यों को पाठ्यक्रम में अनिवार्य रूप से स्थान मिलना चाहिए। आज तक उन्हें उचित स्थान नहीं मिलने का जो परिणाम हुआ है, वह हम सब की आँखों के समक्ष है। हाथ-पैर से होनेवाले औद्योगिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक कार्यों से अलग रख कर अपने नवयुवकों में भूठी वाबूगिरी हमने उत्पन्न की है। मौ-पचास रुपये की किरानीगिरी के लिए हमने उन्हें दौड़ाया है, जब कि हाथ-पैर को व्यवहार में लाकर वे इससे कहीं अधिक द्रव्योपार्जन कर सकते थे। निज की जमीन घर पर होते हुए भी उन्होंने कृषि अथवा वागवानी नहीं पसन्द की है और नगरों के चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले, पर दूषित, वातावरण की ओर वे आँखें बन्द कर दौड़े हैं। इससे न उनका कोई वास्तविक लाभ हुआ है, न नगरों का। ग्रामों की क्षति, जो ऐसी प्रवृत्ति से हुई है, वह तो अपनी जगह पर है। यही कारण है कि आज चारों ओर से यह पुकार हो रही है कि 'गाँवों की ओर लौटो'।

स्कूल के बच्चों का सर्वप्रथम सामाजिक कार्य स्कूल से ही आरम्भ होना चाहिए। प्रत्येक वर्ग में एक-एक ऐसी समिति होनी चाहिए, जिसका कर्तव्य हो वर्ग के कमरे की स्वच्छता तथा सुन्दरता की देखभाल करना। यह धारणा सरासर निराधार है कि यह उत्तरदायित्व बच्चे निभा नहीं सकते। उत्तरदायित्व की भावना उत्तरदायित्वपूर्ण

कार्यों के संचालन से उत्पन्न होती है, न कि उपदेशों अथवा डंडों से। आये दिन हमारी आँखों के सामने ऐसे उदाहरण आते हैं, जिन्हें देख कर हम क्षुब्ध तथा क्रुद्ध हो उठते हैं। आज इस क्लास के कमरे की दीवार पर किसी ने कुछ अश्लील बातें लिख दी हैं अथवा स्याही छिड़क दी है, अथवा कमरे की जमीन को गन्दा कर दिया है और कल उस। लड़कों का विश्वास नहीं करने से अथवा उनपर उत्तरदायित्व नहीं लादने से ये ही परिणाम होते हैं। बच्चे जिन कमरों की सफाई स्वयं अपने हाथों से करेंगे तथा जिनकी सौन्दर्य-वृद्धि के लिए घंटे और दिन लगायेंगे, उन्हीं कमरों को वे खुद अपने ही हाथों से बिगाड़ नहीं सकते। यह ध्रुव सत्य है। हमें अच्छी तरह यह समझ लेना है कि विश्वास का फल विश्वास के पेड़ में ही लगता है, अविश्वास के पौधे में नहीं। संभव है आरम्भ में बच्चों से कुछ भूलें हों, पर इससे न निराश होने की आवश्यकता है और न इस प्रकार के प्रयत्नों के परित्याग करने की।

इतना ही नहीं, इस कार्य में अभ्यास और सफलता प्राप्त करने के बाद स्कूल के पूरे अहाते की सफाई का कार्य भी सप्ताह में एक दिन एक घंटे में किया जा सकता है। इसके लिए भी एक सामूहिक सफाई समिति स्थापित की जा सकती है, जिसके सदस्य प्रत्येक वर्ग के बच्चे हो सकते हैं। कुछ भूल हो तो भी इन तमाम बातों का प्रबन्ध तथा उत्तरदायित्व बच्चों के कंधों पर ही छोड़ देना चाहिए। शिक्षक हो केवल परामर्श तथा सहायता भर देने को, वह भी यथासंभव बच्चों की ओर से माँग होने पर, अन्यथा नहीं।

इस कार्य में यदि सफलता प्राप्त हो गई—और होगी ही—तो सारा स्कूल और उसका अहाता वह रूप धारण कर लेगा कि पार्श्ववर्ती गाँव अथवा नगर के महल्लों के लिए वह एक सुन्दर आदर्श बन जायगा। हजारों-हजार आदमी जो सालों भर स्कूल में किसी-न-किसी काम के लिए आते-जाते रहते हैं, उन सभी के लिए स्कूल का वह छोटा-सा स्वच्छ तथा सुव्यवस्थित समाज एक मूक, पर प्रभावशाली, आदर्श का काम करता रहेगा। बाहर के समाज में रहनेवाले बच्चों के अभिभावकों

के हृदय में स्कूल के प्रति हठात् श्रद्धा तथा प्रेम उत्पन्न हो जायगा और साथ ही साथ अपने-अपने घरों तथा मुहल्लों को तदनु रूप बनाने की प्रेरणा उन्हें मिलती रहेगी ।

स्कूलों के भीतर उनकी सफाई भर से हम सन्तुष्ट होनेवाले नहीं । हमें तो स्वच्छता और सौन्दर्य दोनों चाहिए । क्लास के कमरों तथा स्कूल की वाटिका को सजाने का कार्य भी हम अपने बच्चों के ऊपर सौंपना चाहेंगे । स्वच्छता और सौन्दर्य दोनों साथ-साथ चलने वाली वस्तुएँ हैं । हमें तो अपने बच्चों में सौन्दर्यानुभूति तथा सौन्दर्य-प्रियता दोनों उत्पन्न करनी है । किसी भी शैक्षिक उद्देश्य अथवा योजना का यह आवश्यक अंग होना चाहिए । इङ्ग्लैण्ड तथा फ्रांस आदि देशों के अनेक स्कूलों में मैंने यह कार्य बड़ी सफलतापूर्वक होते देखा है । अपने देश में भी कुछ स्कूलों में यह कार्य काफी सफलतापूर्वक होते देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है । हमारे देश के बच्चे किसी भी देश के बच्चों से किसी प्रकार कम नहीं हैं । यह बात पूर्णरूप में मान लेने की है । अविश्वास और निराशावादिता के कारण अभी तक हमने इस क्षेत्र में कोई सामूहिक तथा ठोस प्रयत्न नहीं किया है ।

हमारे बच्चों के सामाजिक कार्य स्कूल तक ही सीमित नहीं हो सकते । सामूहिक सफाई के कार्य समय-समय पर अथवा विशेष अवसरों पर गाँवों अथवा नगर के मुहल्लों में सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं । आवश्यकता है एक धुन की, लगन और संकल्प की । अनुकूल प्रवृत्ति उत्पन्न करना शिक्षकों का काम है, उपदेश द्वारा नहीं, प्रत्युत निजी उदाहरणों द्वारा । स्कूल की इकाई से उठ कर हम समुदाय में प्रवेश करेंगे । काम बिल्कुल ही कठिन नहीं है, करनेवाले कर ही रहे हैं । माध्यमिक स्कूल के बच्चों के साथ, जो कई अंशों में शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से प्रौढ़ हैं, यह कार्य और भी सुगमता तथा सफलता से किया जा सकता है ।*

इस प्रकार के कार्य सभी दृष्टि से किये जाने योग्य हैं । इनकी

* इस प्रकार के कार्यों का विवरण अध्याय २१ में कुछ विस्तार के साथ किया गया है ।

सफलता निर्भर करती है स्वयं शिक्षकों की सक्रिय अभिरुचि पर। यदि शिक्षक इस ओर से उदासीन हुए तो उदासीनता की छूट वच्चों को लगकर रहेगी। इसलिए स्कूल के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे शिक्षकों की नियुक्ति के समय तथा उसके बाद भी इस पर ध्यान रखें कि वे लोग ही शिक्षक बनाये जायँ तथा वे ही अपनी जगहों पर बने रहें जिन्हें इस प्रकार के सामाजिक कार्यों में सम्यक् अभिरुचि हो। पुस्तकगत बातों को क्लास में दुहरा देने भर से उनके कार्य की इतिश्री नहीं हो जाती।

स्कूलों की ओर से वाचनालयों का प्रबन्ध किया जा सकता है। इन वाचनालयों में स्कूल की ही पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ काम में लाई जा सकती हैं। कोई आवश्यकता नहीं है कि ये पुस्तकें बाहर ही भेजी जायँ। प्रयत्न तो संभवतः यही होना चाहिए कि ये वाचनालय स्कूल के ही किसी कमरे में संध्या समय एक-दो घंटों के लिए आयोजित किये जायँ और उच्च वर्गों के विद्यार्थियों की देख-रेख तथा व्यवस्था में यह पूरा कार्य सम्पादित हो। शिक्षकों का परामर्श भर रहे।

वाचनालय की व्यवस्था के साथ-साथ, संभवतः उसी स्थान तथा समय में एक जिज्ञासा कार्यालय (Enquiry Bureau) की व्यवस्था भी की जा सकती है। इसका प्रबन्ध भी माध्यमिक विद्यालय के उच्च वर्ग के लड़कों के हाथ में छोड़ देना चाहिए। ऊपर से देखनेवालों को कदाचित् यह मालूम पड़ेगा कि विद्यार्थियों का सारा समय इधर-उधर में ही व्यतीत हो जाता है। स्कूल स्कूल नहीं रह गया है, यह एक सेवा-समिति है। पर, यह धारणा बिल्कुल निर्मूल है। ऐसा सोचनेवाले पहली भूल तो यह करते हैं कि वे शिक्षा और पुस्तक-पाठ को पर्यायवाची शब्द समझ लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि सामाजिक सम्पर्क और कार्य व्यावहारिक शिक्षा के सुन्दर-से-सुन्दर माध्यम हैं।

जिज्ञासा-कार्यालय का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह ग्रामवासियों को उनके जीवन की सभी आवश्यक बातों के सम्बन्ध में सूचना दे। हमारे देहाती भाई अधिकांश में अशिक्षित हैं। उन्हें प्रायः पता नहीं

एहता है कि सुन्दर बीज, खाद, नये वैज्ञानिक हल तथा कृषि-सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुएँ कहाँ से तथा किस मूल्य पर उपलब्ध हो सकती हैं। परिणाम यह होता है कि वे अशोक के समय से काम में आने-वाले हल आदि का प्रयोग आज भी करते जा रहे हैं। गंगा में तब से केतना पानी बहू गया, पर वे भाग्य पर भरोसा कर आज भी उन्हीं पुरानी तकियों पर चढ़ते जा रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि बीसवीं सदी की दौड़ में हम भारतवासी कोसों पीछे पड़ गये हैं।

कृषि-सम्बन्धी सूचनाओं के अनिश्चित भी अन्य आवश्यक बातें हैं, जिनका पता हमारे ग्रामवासियों को नहीं है। उन्हें तरह-तरह की बीमारियाँ होती रहती हैं, पर उन्हें यह पता नहीं होता कि उन रोगों की उचित चिकित्सा कहाँ-कहाँ प्राप्त हो सकेगी। परिणाम यह होता है कि वे उन मूर्खों के चंगुल में पड़कर पैसे नष्ट कर बैठते तथा जान से हाथ धो बैठते हैं जो चिकित्सा-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न करके भी देहान्तों में डाक्टर, हकीम, अथवा वैद्य बने हुए हैं।

प्रश्न यह उठ सकता है कि माध्यमिक स्कूल के उच्च वर्गों के विद्यार्थियों को स्वयं उन आवश्यक सूचनाओं का पता है या नहीं। बात यह है कि जिन दस-बीस चीजों की हमारे ग्रामीण जीवन में बहुत आवश्यकता है उनका पता उच्च कक्षा के शिक्षित विद्यार्थी बड़ी सुगमता से पा सकते हैं। अपने शिक्षकों से भी वे सहायता ले सकते हैं।

दूसरा प्रश्न संभवतः इस स्थल पर यह भी उठ सकता है कि गाँववाले पूछने आवेंगे या नहीं। यदि उन लोगों को यह अच्छी तरह मालूम हो जाय कि जिज्ञासा-कार्यालय में उनके लाभ की बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं तो गरज के मारे वे खुद वहाँ दौड़ पड़ेंगे। जहाँ एक बार अभ्यास पड़ा कि गाढ़े समय में उनके कदम इस कार्यालय की ओर आप-से-आप उठते दिखाई देंगे।

प्रत्येक ग्राम में उसके नवयुवकों की एक-एक नवयुवक सभा (Youth Club) स्थापित की जा सकती है। हमारे माध्यमिक विद्यालय

के विद्यार्थी ऐसी सभाएँ स्थापित कर स्थानीय युवकों के हृदय में लोक-सेवा के भाव भर सकते हैं, तथा इस तरह ग्राम-ग्राम में स्थानीय सुधार-सेना तैयार की जा सकती है। उनकी प्राथमिक सफलता के लिए स्कूल के छात्रों का सहयोग आवश्यक है। एक बार सफलता प्राप्त हो जाने पर वही सफलता भविष्य के लिए प्रेरणा बन जायगी और सुधार-कार्य अनवरुद्ध चलता रहेगा। इसके अतिरिक्त यह बात भी होगी कि उन ग्रामों के स्वयं निवासी होने के कारण हमारे छात्र ऐसी नवयुवक सभा के स्थायी सदस्य हो सकेंगे। इस प्रकार ग्रामोद्धार-कार्य स्थानीय रुचि तथा लगन की आधारशिला पर और भी सुगमता तथा सफलता के साथ चलता रहेगा। आवश्यकता है एक बार जोर से धक्का दे देने की।

इस नवयुवक सभा की बैठक प्रति मास बुलाई जा सकती है और उसमें ग्राम-सुधार-सम्बन्धी सभी प्रश्न विचारे जा सकते हैं। इसकी मासिक बैठक का स्थान भी यथासंभव संध्या समय विद्यालय के ही भवन में होना उत्तम है। इससे ग्रामवासियों की रुचि अपने विद्यालय में बढ़ेगी। हम इस बात का समर्थन उसी सिद्धान्त पर कर रहे हैं कि स्कूल को यथासंभव बाहर समाज में उतरना चाहिए और समाज को स्कूल में (The school must go out to the community and the community must come into the school) जिसका प्रतिपादन अन्तर-राष्ट्रीय टीम ने अपनी रिपोर्ट में किया है। किसी कारणवश उनकी बैठक स्कूल के भवन में संभव नहीं हो सके, तब अन्य सार्वजनिक स्थान, जैसे देव-मन्दिर अथवा पुस्तकालय आदि की खोज की जा सकती है।

इन्हीं चीजों के साथ स्कूल में प्राथमिक-चिकित्सा-केन्द्र (First Aid Centre) भी खोले जा सकते हैं। इनके खोलने और संचालित करने में न कोई विशेष समय का खर्च है, न पैसे का। एक बार दस-पाँच रुपये की सामग्री खरीद लेने पर बहुत दिनों तक काम चल सकता है। इससे लाभ यह होगा कि ग्राम-वासियों को न केवल आवश्यक सहायता इससे

प्राप्त होगी, प्रत्युत् अपने स्कूल की उपयोगिता की भावना उनके हृदय में जमेगी और उसके प्रति अपनापन का भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होता जायगा ।

समय-समय पर किये जानेवाले इन कार्यों के अतिरिक्त कोई माध्यमिक स्कूल यदि चाहे तो साल में एक बार 'ग्रामोद्धार-सप्ताह' मना सकता है । गांधीजी के जन्म-दिवस के अवसर पर यह सप्ताह मनाया जाय तो उत्तम होगा, अथवा वार्षिक परीक्षा के समाप्त होते ही यह सप्ताह आरम्भ हो सकता है । उस समय बच्चों में परीक्षा के लिए अधिक अध्ययन के बाद स्वभावतः पुस्तकें पढ़ने की उत्तनी इच्छा नहीं रहा करती है । अतः इस समय इसको आरम्भ कर देने से पठन-पाठन की सामान्य गति में कोई अवरोध भी नहीं उपस्थित होगा ।

इस सप्ताह में स्कूल के चार-पाँच सौ विद्यार्थियों की सेना किसी गाँव पर टूट पड़ सकती है और सामूहिक सफाई से लेकर अनेकानेक प्रकार की सभाएँ सप्ताह-भर प्रतिदिन आयोजित की जा सकती हैं । स्पष्ट है कि इन कार्यों का सबसे उपयुक्त समय प्रातःकाल और संध्याकाल होना चाहिए, ताकि ग्रामीण अधिक-से-अधिक संख्या में स्कूल द्वारा किये गये सुधार-कार्य को देख और समझ सकें, अथवा सभाओं में सम्मिलित हो सकें ।

इस 'ग्रामोद्धार-सप्ताह' को 'श्रमदान-सप्ताह' अथवा 'विनोबा सप्ताह' भी कहा जा सकता है । इस सप्ताह में शिक्षकों और विद्यार्थियों की इतनी बड़ी टोली बहुत अधिक काम कर सकती है । गाँवों में कभी-कभी एक आवश्यक सड़क तक नहीं हुआ करती । ग्रामवासियों में तदर्थ रुचि उत्पन्न कर उनके श्रमदान को भी प्राप्त करते हुए छोटी-बड़ी सड़क बनाने का काम आरंभ किया जा सकता है । काम यदि अंश में भी हो जायगा और उसकी उपयोगिता ग्रामवासियों की आँखों में स्पष्ट हो जायगी तो वे ग्रामवासी स्वयं पीछे चलकर भी उस कार्य को अग्रसर करते हुए पूरा कर सकेंगे । नई सड़कों के निर्माण के स्थान में कभी-कभी पुरानी सड़कों अथवा गलियों

की मरम्मत ही की जा सकती है। इसमें भी ग्रामवासियों का सहयोग यथासंभव प्राप्त करना आवश्यक है।

गाँव के कुओं अथवा तालाबों की सफाई और मरम्मत का काम भी इस सप्ताह में किया जा सकता है। व्याख्यानों के द्वारा ग्रामीणों को यह भी बताया जा सकता है कि सार्वजनिक कुएँ और तालाब किस प्रकार साफ रखे जा सकते हैं और वैसा नहीं करने पर कौन-कौन-सी हानियाँ हो सकती हैं।

ग्रामवासियों में साक्षरता के प्रचार के लिए रात्रि-पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। और शिक्षण-कार्य उच्च वर्ग के विद्यार्थियों पर सौंपा जा सकता है। वे यदि इन पाठशालाओं में बारी-बारी से जाकर कार्य करें तो संभव है कि प्रत्येक विद्यार्थी को सालभर में दो दिनों से अधिक यह काम करना न पड़े। यह काम ऊपर से देखने पर जितना कठिन अथवा समय लेनेवाला दीखता है, वास्तव में उतना है नहीं। सामूहिक स्तर पर किये जाने के कारण यह कार्य प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सुगम और संभव हो सकता है।

कोई आवश्यकता नहीं कि यह श्रमदान-सप्ताह प्रतिवर्ष एक ही गाँव में मनाया जाय। निकटवर्ती सभी गाँवों को बारी-बारी से कार्य-केन्द्र बनाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के सामाजिक कार्य से ग्रामवासियों में यह भावना उत्पन्न होगी कि स्कूल उनकी ही संस्था है और उनके ही लिए है। ऐसी स्थानीय भावना उत्पन्न करना सभी दृष्टि से आवश्यक है, तभी हमारी शिक्षा जीवन-केन्द्रित कही जायगी। हम वास्तविक जीवन के सम्पर्क में आकर उसके सभी पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन करें, और उसमें दक्षता तथा सफलता प्राप्त करने के लिए सभी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शोध लाभ करें। भारतीय विद्यालयों का प्रथम कर्तव्य है शिक्षा को जीवन से जोड़ देना।

ऊपर जिन सामाजिक कार्यों का उल्लेख किया गया है उनके

सफल सम्पादन में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। यदि इनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो यह पता चलने में कदाचित् देर नहीं होगी कि अधिकांश कठिनाइयाँ कल्पित हैं। प्रयोग करने के पूर्व ही हम बाधाओं की कल्पना प्रायः कर लिया करते हैं और परिणामस्वरूप कार्यारम्भ ही नहीं करते। हम भूल जाते हैं कि पहाड़ दूर से बहुत बड़ा और अलंघ्य दीखता है, पर निकट जाने पर ऊपर चढ़ने के मार्ग मिल ही जाते हैं। जो कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ होती भी हैं उनमें अधिकांश आसानी से दूर की जा सकती हैं और बहुत थोड़ी ही ऐसी होती हैं, जिनका सामना करना वास्तव में कठिन हुआ करता है।

हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जितना बड़ा कार्य होता है उसका सम्पादन उसी अनुपात में कठिन भी हुआ करता है। कदाचित् कष्टसाध्य सम्पादन के कारण ही वे बड़े कहे जाते हों। यह भी है कि कठिनाइयों की रगड़ में ही हमारी वास्तविक शिक्षा होती है। उस समय न केवल हमारे हाथ-पाँव क्रियाशील हो जाते हैं, किन्तु मस्तिष्क भी। अतः कठिनाइयों से भागने की आवश्यकता नहीं।

सबसे बड़ी कठिनाई स्वयं शिक्षकों से आरम्भ हो सकती है। यदि उनमें ऐसे सामाजिक कार्यों के प्रति श्रद्धा, विश्वास और लगन नहीं है तो ऐसे स्कूल की पूरी स्कीम फेल कर जायगी। ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है कि उन्हें उनमें विश्वास तो है, पर आलस्य अथवा उत्साह-हीनता के कारण वे इनमें लगना नहीं चाहते। इस कठिनाई को स्कूल का अधिकारी-वर्ग दूर कर सकता है।

कभी यह कठिनाई भी बताई जा सकती है कि पाठ्यक्रम बृहत् है और इस प्रकार के सामाजिक कार्यों में पढ़ने पर पाठ्यक्रम निश्चित अवधि में पूरा किया नहीं जा सकता। यह कठिनाई हमारी दृष्टि में प्रायः निर्मूल ही है। सापूहिक दृष्टि डालने पर सामाजिक कार्यों की यह सूची बड़ी मालूम पड़ती हो, पर अनेकानेक विद्यार्थी तथा उनके व्यक्तिगत कार्य-सम्पादन को देखने पर ये कार्य अवश्य सुगम अनुभूत

की मरम्मत ही की जा सकती है। इसमें भी ग्रामवासियों का सहयोग यथासंभव प्राप्त करना आवश्यक है।

गाँव के कुओं अथवा तालाबों की सफाई और मरम्मत का काम भी इस सप्ताह में किया जा सकता है। व्याख्यानों के द्वारा ग्रामीणों को यह भी बताया जा सकता है कि सार्वजनिक कुएँ और तालाब किस प्रकार साफ रखे जा सकते हैं और वैसा नहीं करने पर कौन-कौन-सी हानियाँ हो सकती हैं।

ग्रामवासियों में साक्षरता के प्रचार के लिए रात्रि-पाठशालाएँ खोली जा सकती हैं। और शिक्षण-कार्य उच्च वर्ग के विद्यार्थियों पर सौंपा जा सकता है। वे यदि इन पाठशालाओं में बारी-बारी से जाकर कार्य करें तो संभव है कि प्रत्येक विद्यार्थी को सालभर में दो दिनों से अधिक यह काम करना न पड़े। यह काम ऊपर से देखने पर जितना कठिन अथवा समय लेनेवाला दीखता है, वास्तव में उतना है नहीं। सामूहिक स्तर पर किये जाने के कारण यह कार्य प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सुगम और संभव हो सकता है।

कोई आवश्यकता नहीं कि यह श्रमदान-सप्ताह प्रतिवर्ष एक ही गाँव में मनाया जाय। निकटवर्त्ती सभी गाँवों को बारी-बारी से कार्य-केन्द्र बनाया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के सामाजिक कार्य से ग्रामवासियों में यह भावना उत्पन्न होगी कि स्कूल उनकी ही संस्था है और उनके ही लिए है। ऐसी स्थानीय भावना उत्पन्न करना सभी दृष्टि से आवश्यक है, तभी हमारी शिक्षा जीवन-केन्द्रित कही जायगी। हम वास्तविक जीवन के सम्पर्क में आकर उसके सभी पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन करें, और उसमें दक्षता तथा सफलता प्राप्त करने के लिए सभी सैद्धांतिक और व्यावहारिक ज्ञान लाभ करें। भारतीय विद्यालयों का प्रथम कर्तव्य है शिक्षा को जीवन से जोड़ देना।

ऊपर जिन सामाजिक कार्यों का उल्लेख किया गया है उनके

सफल सम्पादन में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। यदि इनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो यह पता चलने में कदाचित् देर नहीं होगी कि अधिकांश कठिनाइयाँ कल्पित हैं। प्रयोग करने के पूर्व ही हम बाधाओं की कल्पना प्रायः कर लिया करते हैं और परिणामस्वरूप कार्यारम्भ ही नहीं करते। हम भूल जाते हैं कि पहाड़ दूर से बहुत बड़ा और अलंघ्य दीखता है, पर निकट जाने पर ऊपर चढ़ने के मार्ग मिल ही जाते हैं। जो कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ होती भी हैं उनमें अधिकांश आसानी से दूर की जा सकती हैं और बहुत थोड़ी ही ऐसी होती हैं, जिनका सामना करना वास्तव में कठिन हुआ करता है।

हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जितना बड़ा कार्य होता है उसका सम्पादन उसी अनुपात में कठिन भी हुआ करता है। कदाचित् कष्टसाध्य सम्पादन के कारण ही वे बड़े कहे जाते हों। यह भी है कि कठिनाइयों की रगड़ में ही हमारी वास्तविक शिक्षा होती है। उस समय न केवल हमारे हाथ-पाँव क्रियाशील हो जाते हैं, किन्तु मस्तिष्क भी। अतः कठिनाइयों से भागने की आवश्यकता नहीं।

सबसे बड़ी कठिनाई स्वयं शिक्षकों से आरम्भ हो सकती है। यदि उनमें ऐसे सामाजिक कार्यों के प्रति श्रद्धा, विश्वास और लगन नहीं है तो ऐसे स्कूल की पूरी स्कीम फेल कर जायगी। ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है कि उन्हें उनमें विश्वास तो है, पर आलस्य अथवा उत्साह-हीनता के कारण वे इनमें लगना नहीं चाहते। इस कठिनाई को स्कूल का अधिकारी-वर्ग दूर कर सकता है।

कभी यह कठिनाई भी बताई जा सकती है कि पाठ्यक्रम बृहत् है और इस प्रकार के सामाजिक कार्यों में पढ़ने पर पाठ्यक्रम निश्चित अवधि में पूरा किया नहीं जा सकता। यह कठिनाई हमारी दृष्टि में प्रायः निर्मूल ही है। सामूहिक दृष्टि डालने पर सामाजिक कार्यों की यह सूची बड़ी मालूम पड़ती हो, पर अनेकानेक विद्यार्थी तथा उनके व्यक्तिगत कार्य-सम्पादन को देखने पर ये कार्य अवश्य सुगम अनुभूत

होंगे। हम निर्मूल धारणा कर बैठते हैं कि प्रत्येक बच्चे को प्रत्येक कार्य प्रतिदिन करना है, जो वस्तुस्थिति से बिल्कुल दूर है। और भी, यह कोई जरूरी नहीं कि सभी स्कूल सभी कार्य करें। परिस्थिति तथा सुपास के अनुकूल प्रत्येक स्कूल कुछ-न-कुछ कार्य चुन ले सकता है। कार्य चाहे जो भी अथवा जितने भी चुने जायँ उनका सम्पादन पूरी लगन और तत्परता के साथ होना चाहिए। गंदे ढंग तथा अनिच्छा से कार्यों के करने के स्थान में बिल्कुल नहीं करना कहीं अच्छा है। इसे सदा स्मरण रखना चाहिए।

हमारी परीक्षा का जो वर्तमान स्वरूप है, वह सामाजिक कार्यों के सम्पादन में कुछ अंशों तक अवश्य बाधक है, पर यह कठिनाई स्वाभाविक नहीं, मनुष्यकृत है और परीक्षा के वर्तमान स्वरूप में रूपान्तर उपस्थित कर देने पर दूर हो जा सकती है। परीक्षा की परीक्षा हम अन्य उपयुक्त स्थल पर करेंगे।

विद्यार्थियों के द्वारा किये गये सामाजिक कार्यों को नियमित तथा सुव्यवस्थित करने के लिए उत्तम यही होगा कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अलग-अलग अभिलेख-पत्र (Record Card) हो, जिसमें वह अपने किये हुए कार्यों को प्रतिसप्ताह अथवा प्रतिमास भरता चला जाय। यह क्रिया वर्ग शिक्षक (Class-master) की देखरेख में वर्ग के अन्दर ही होनी चाहिए।

दुर्भाग्यवश हमारे विद्यार्थियों का मस्तिष्क इस समय परम्परागत प्रचलनों के कारण इतना परीक्षा-जर्जर हो गया है कि अधिक नहीं तो कुछ समय के लिए कदाचित् यह आवश्यक होगा कि इस अभिलेख-पत्र को भी वार्षिक परीक्षा का अभिन्न अंग मान लिया जाय और इसमें जो प्राप्तांक हों वे अन्य विषयों के प्राप्तांक में जोड़ दिये जायँ। अभी तो हमारी मनोवृत्ति कुछ ऐसी हो गई है कि हम परीक्षा से भिन्न विषयों को पढ़ने अथवा उन पर ध्यान देने को प्रस्तुत नहीं होते। बहुत सम्भव है, कुछ वर्षों तक इस प्रकार के कार्यों को करने

का हमें अभ्यास हो जाय और यह हमारे विद्यालयों के काल-मर्यादित प्रचलनों (school traditions) का एक अभिन्न अंग बन जाय । उस समय परीक्षा-रूपी नियंत्रण की आवश्यकता न होगी ।

शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक आधार की आवश्यकता पर बल देते हुए मार्ट और विसेण्ट ने कहा है कि यदि नैतिक दृष्टि से भी सोचा

सामाजिक आधार
की आवश्यकता

जाय तो किसी भी स्कूल को अपने सामाजिक आधार की अवहेलना नहीं करनी चाहिए ।

आखिर स्कूल एक सामाजिक संस्था है ।

समाज ने अपने बच्चों की आयु की आठ-दस वर्ष की अमूल्य अवधि स्कूलों को समर्पित कर दी है । जीवन के इन मूल्यवान् वर्षों के साथ कोई भी स्कूल खेलवाड़ नहीं कर सकता और न उसे करना ही चाहिए । इतना ही नहीं, स्कूल की सारी हस्ती समाज के दिये हुए पैसों पर कायम है । ऐसी परिस्थिति में यदि कोई स्कूल अपने समाज की उपेक्षा करता है, तो वह अपराधी है और उसे समाज के बीच टिके रहने का कोई अधिकार नहीं है ।

परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं पर स्कूल का ध्यान सदा केन्द्रित रहना चाहिए । उसका यह कर्तव्य है कि वह समाज की नब्ज पर अपनी उँगलियाँ बराबर रखे; उसकी नित्य नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथामाध्य क्रियाशील हो तथा समाज के रंगमंच पर उपस्थित होनेवाली सभी समस्याओं को समझने के लिए सचेष्ट हो । ऐसा करने पर ही स्कूल एक जीवित संस्था कही जा सकती है । यदि कोई स्कूल सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ तदनुकूल तथा उसी अनुपात में अपनी सारी शैक्षिक प्रक्रियाओं तथा योजनाओं में परिवर्तन नहीं लाता तो वह कर्तव्यच्युत हो जाता है ।

स्कूलों को यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्तियों के कल्याण में ही समाज का कल्याण है । यदि स्कूल एक व्यक्ति में दक्षता उत्पन्न करता है तो उस व्यक्ति की देन सारे समाज को प्राप्त होती है और वह उससे लाभान्वित होता है ।

यदि व्यक्ति को समाज के अन्तर्गत रहना है—और रहना ही है—तो सामाजिक जीवन में जो-जो काम करने हैं उन सभी कार्यों को अधिक दक्षता और सफलता के साथ कर सकने के लिए उसे योग्य बनाना प्रत्येक विद्यालय का कर्त्तव्य है ।

सामाजिक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्र तब बलवान् होता है जब उस राष्ट्र के सभी नागरिक हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होते हैं । अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक और मानसिक विकास के साथ-साथ उसके शारीरिक विकास के लिए भी स्कूल सक्रिय रहे ।

कई दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्कूल को समाज का संक्षिप्त संस्करण होना चाहिए । इसका अभिप्राय यह है कि स्कूलों का संगठन सामाजिक संचे पर ही होना चाहिए । समाजशास्त्री तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि प्रत्येक स्कूल को एक सामाजिक प्रयोगशाला के रूप में होना चाहिए । समाज के दैनिक जीवन में होनेवाली जितनी राजनैतिक, धार्मिक, औद्योगिक तथा सांस्कृतिक क्रियाएँ हैं वे सभी क्रियाएँ संक्षिप्त तथा संगोहित रूप में प्रत्येक विद्यालय में की जानी चाहिए । तभी ऐसे स्कूल की एक सफल और उपयोगी सामाजिक संस्था में गिनती की जा सकती है ।

अध्याय ६

सामाजिक शैक्षिक संस्थाएँ

(Social Agencies of Education)

परिवार, समाज, सिनेमा तथा रेडियो आदि का शैक्षिक महत्त्व

(Educational importance of

Home, Society, Cinema, Radio etc.)

“The most important single group educationally to which most children ever belong, no matter in what part of the world they may be born, is the family into which they come.” —*Niblett*

“It (home) remains a key institution in the transmission of the cultural heritage and in social survival.”

“The natural environment of a child, in early years especially, is his home. But from the age of five upwards almost every child becomes aware of school as part of his surroundings, and at a later stage, of that wider environment of the community in which he lives.” —*Report of the Central Advisory Council for Education (England)*

“Least favouritism shown by a parent to any one of the children causes jealousy, resentment, tears and

cries, boycotts, silence and hunger strikes. Equitable treatment and fair dealings with tactfulness are the only remedy for it."

शिक्षा के संकुचित तथा व्यापक अर्थों का उल्लेख हम पुस्तक के आरम्भ में ही कर आये हैं। उन्हीं अर्थों के अनुकूल हमारी शैक्षिक संस्थाएँ भी अनेक प्रकार की हैं। इनमें से कुछ ऐसी हैं जिनको समाज ने अपने विशेष तथा निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए खोल रखा है। संकुचित अर्थ में शिक्षा का जो अभिप्राय है उसी को कार्यान्वित तथा संभव करने के लिए ये संस्थाएँ साधन-स्वरूप बन जाती हैं। ऐसी संस्थाओं को सविधिक संस्थाएँ (Formal Agencies of Education) कहा जा सकता है। इन्हीं संस्थाओं की श्रेणी में हमारे स्कूल, वाचनालय तथा पुस्तकालय आदि आते हैं।

व्यापक अर्थ में प्रायः सभी स्थान हमारे शिक्षा-केन्द्र बन जाते हैं और सभी व्यक्ति हमारे शिक्षक। इस व्यापक अर्थ में हम अपने बच्चों से भी कुछ-न-कुछ सीखते रहते हैं और हमारे ज्ञान की सीमा उत्तरोत्तर विस्तृत होती रहती है। ऐसी संस्थाओं की श्रेणी में परिवार, समाज विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संस्थाएँ, सिनेमा, रेडियो, समाचारपत्र आदि आते हैं। शैक्षिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाज को इन संस्थाओं का निर्माण नहीं करना पड़ता। ये समाज की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती ही हैं और इनका शैक्षिक कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सदा चलता रहता है।

एक वह जमाना था जब समाज में एक भी स्कूल नहीं था। नवागत शिशु के शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास का प्रायः सम्पूर्ण उत्तरदायित्व परिवार के परिवार और शिक्षा ऊपर हुआ करता था। इस दृष्टि से हम परिवार को शिक्षा की प्राचीनतम संस्था कह सकते हैं। सामाजिक स्वरूप तथा कार्य में जब जटिलता उत्पन्न होने लगी तब परिवार

का शैक्षिक उत्तरदायित्व बढ़ने लगा। यह भार-वहन जब घर के लिए कठिन होने लगा तब समाज ने सविधिक शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की। इससे घर का शैक्षिक भार कम अवश्य हुआ, पर मिटा नहीं, कदाचित् कभी मिटेगा भी नहीं।

कहा गया है कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक चरित्र-निर्माण के लिए घर प्रथम शैक्षिक केन्द्र है। पहला उदाहरण (आदर्श) यही प्रदान करता है। यही पहली शिक्षा भी प्रदान करता है। यही प्रथम सूक्ष्म समाज है। यहीं पर पहली बार न्याय-अन्याय की अनुभूति होती है। सामाजिक परम्पराओं के प्रथम नमूने यहाँ प्राप्त होते हैं। एक परिवार दूसरे के बहुत अनुरूप होता है तथापि निजी विशेषताओं के कारण दूसरे से भिन्न भी होता है। वास्तव समाज की तरह परिवार अपने सदस्यों के रूप का निर्माण करता है और उनके द्वारा स्वयं उसका स्वरूप निर्मित होता है।*

परिवार के शैक्षिक महत्त्व में कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। बुरा हो अथवा भला, इसका प्रभाव हमारे बच्चों की शारीरिक वृद्धि तथा चरित्र-निर्माण पर बहुत अधिक पड़ता है। माता, पिता, भाई, बहन तथा अन्य सम्बन्धी, अतिथि तथा नौकरों के दैनिक कार्य-कलाप, व्यवहार तथा दृष्टिकोण बच्चों के लिए मूक, पर सबल तथा अनिवार्य, आदर्श बन जाते हैं। उस वातावरण में रह कर बच्चा उन्हीं आदर्शों के साँचे में अज्ञातरूप से ढलता जाता है और अपने परिवार का

*“The home is the first training ground of character, both individual and social. It sets the first examples. It gives the first teaching. It is the first little community. Here justice—and injustice—are experienced for the first time. Here is authority and the rule of law. Here is the first pattern of social conventions, one family very much like another, but with its own important eccentricities and variations. The family, like society at large, shapes its members and is shaped by them,”

—Ministry of Education (England) Pamphlet No. 16

सामान्य स्वरूप प्राप्त कर लेता है। धीरे-धीरे वह घरवालों की रुचि, मनोवृत्ति तथा विश्वास आदि को ग्रहण कर लेता है। परिवारगत रुढ़ियाँ, परम्पराएँ तथा संस्कृति उसके चरित्र में प्रवेश कर जाती हैं। यह सारा परिवर्तन अबाध गति से क्षण-प्रतिक्षण अप्रत्यक्ष रूप में होता रहता है।

परिवार का यह व्यापक प्रभाव बच्चे के चरित्र तथा धार्मिक संस्कृति के निर्माण में स्पष्ट दिखाई दे सकता है। जन्म के बाद ही बच्चा हिन्दू, मुस्लिम अथवा ईसाई बन जाता है। यह चमत्कारपूर्ण परिणाम परिवार का ही है। परिवार में ही धर्म की इतनी गहरी पुहर उस पर लगा दी जाती है कि अधिकांश में वह जीवन-पर्यन्त उसे ढोता चलता है। आश्चर्य तो यह है कि पारिवारिक प्रभाव के कारण उसे उस धर्म में ऐसा विश्वास जम जाता है कि आगे चलकर उस पर आघात होता हुआ देखकर उसका खून खौल उठता है। इस विश्वास और अपनापन के मूल में पारिवारिक प्रभाव ही पाया जायगा। यद्यपि संसार के विभिन्न धर्मों का उसने तुलनात्मक अध्ययन कभी नहीं किया, तथापि वह अपने धर्म को संसार-भर के सभी धर्मों से उत्तम माने बैठा है। यदि कोई धर्म-परिवर्तन का प्रस्ताव उसके समक्ष रखे तो कदाचित् उसके मुँह पर वह तमाचे तक लगा देगा। व्यक्ति का ऐसा आश्चर्यजनक रूपान्तर पारिवारिक प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण है।

जीवन पर्यन्त रह जानेवाला दूसरा पारिवारिक प्रभाव है भाषा-सम्बन्धी। जन्म लेने के दो-तीन वर्षों के भीतर बच्चा एक भाषा का पंडित बन बैठता है। हृद्गत प्रायः समस्त भावों को वह फर्राटे के साथ व्यक्त करने लगता है। परिवार इसके लिए कोई सविधिक (formal) प्रयत्न भी नहीं करता, तथापि यह शिक्षण सर्वांश में सफल हो जाता है। यह है जादू पारिवारिक वातावरण का, जो बच्चों की सहज अनुकरणशीलता की सहायता पाकर काम कर जाता है। और भी, खान-पान, वस्त्र-

आभूषण, रहन-सहन तथा पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्धी सारे पारिवारिक ढाँचे वह अनायास ग्रहण कर लेता है।

उपयुक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवार का शैक्षिक प्रभाव कितना गहरा और कितना स्थायी हुआ करता है। स्कूल के एक ही वर्ग में पढ़नेवाले बच्चे शारीरिक विकास, आचार-व्यवहार तथा बोल-चाल में भिन्न-भिन्न परिवारों से आने के कारण एक दूसरे से भिन्न हुआ करते हैं। बच्चों की चाल अथवा व्यवहार को देखकर हम हठात् कह उठते हैं कि अमुक बालक अच्छे खानदान का है और अमुक बुरे का।

खेद की बात है कि माता-पिता परिवार के शैक्षिक महत्त्व को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझने जितना उन्हें समझना चाहिए। वर्तमान परिस्थिति में यह एक प्रकार से स्वाभाविक है। अधिकांश भारतीय परिवार अशिक्षित तथा निर्धन है। यह उनके नैतिक पतन का भी एक प्रमुख कारण बन गया है। हमारे अनेक परिवार रुढ़िवादिता, भाग्यवादिता, पारस्परिक कलह तथा बुरे अभ्यासों के केन्द्र बन गये हैं, उन्हें पता नहीं कि उनके बच्चों पर इन बातों का क्या प्रभाव पड़ रहा है।

सूसन आइजैक्स ने ठीक ही कहा है कि हम बच्चे से नम्रता का प्रदर्शन चाहते हैं जब कि हम स्वयं उसे यह नहीं दिखाते हैं। उसके प्यार को प्राप्त करने के लिए बिना कुछ किये हम यह आशा कर लेते हैं कि वह हमें बहुत प्यार करेगा, जबकि प्रौढ़ों के प्रेम को प्राप्त करने के लिए हम वैसा प्रयत्न अवश्य करते हैं। जबकि हमारे प्रश्नों के उत्तर देने का उसे मन नहीं होता, हम उसको तंग करने वाले प्रश्न पूछ बैठते हैं और वह भी इस ढंग से जो कि प्रौढ़ों को अपमानजनक मालूम पड़ेगा। हम उसके विषय में उसके सामने बातें करते हैं और कभी-कभी उसपर अपनी विजय की चर्चा करने लग जाते हैं, जो व्यवहार हमारा सामाजिक बहिष्कार करा दे सकता है। हम उसके समक्ष झगड़ पड़ते हैं, मानो उसके वातावरण के प्रमुख व्यक्तियों की मारपीट का उसकी

आँखों में कोई अर्थ ही न हो । हम यह सब करते हैं और साथ ही यह आशा करते हैं कि वह हमारे तथा अन्य बच्चों के प्रति विचारशील, नम्र तथा प्रिय बनेगा ।* हम प्रौढ़ों के मस्तिष्क में कुछ ऐसी बातें धँसी हैं जो हमें बच्चों की यथार्थ भावनाओं के अनुचित मूल्यांकन के लिए बार-बार विवश करती हैं और हम मान लिया करते हैं कि वह न सुनता है, न देखता है अथवा हम जो करते हैं, कहते हैं या हम जो हैं उनमें उसे कोई दिलचस्पी ही नहीं है । फिर भी, ये ही सामान्य दृष्टिकोण, बच्चों के प्रति ये ही व्यापक व्यवहार, हमारे बच्चों अथवा उपदेशों की अपेक्षा हमारे प्रति उसके भाव को कहीं अधिक प्रभावित करते हैं । इन्हीं तरीकों से हम व्यक्त करते हैं कि हम स्वयं क्या हैं ।

भला जिस परिवार में स्वयं पिता व्यसनी और शराबी है और नशे की हालत में स्त्री तथा बच्चों को गाली-गलौज तथा मारपीट करता है, उस घर का बच्चा क्या खाक भला होगा ? जिस परिवार में सारे सामाजिक दुर्गुण टाँग तोड़ कर डेरा जमाये हैं वे उस घर के छोटे बच्चों के आचरण में क्यों कर स्थान नहीं पायेंगे ? यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक हमें यह बताते हैं कि पाँच साल का बच्चा स्कूल जाने के पूर्व ही नैतिक तथा शारीरिक दृष्टि से प्रायः बन या बिगड़

*“We demand expressions of politeness from the child that we never offer to him. We expect him to love us best, as a matter of course, without doing anything to win his affection, as we certainly should do with an adult whom we wished to win. We ask him annoying questions when he is not in the mood to answer them—in a way we should think incredibly rude to an adult. We talk about him in front of him, and sometimes even relate our own triumphs over him in a way which would lead us to be ostracized in adult society. We quarrel in front of him as if it meant nothing to him to have the most important grown ups in his environment hurting each other. We do this and at the same time expect him to be considerate and polite and loving to us and to other children.”

गया रहता है। यह परिस्थिति इस बात को स्पष्ट कर देती है कि स्कूल का वास्तविक कार्य कितना कठिन हो जाता है। बाप अपने बच्चे को चरित्र-भ्रष्ट कर देने के बाद स्कूल से यह आशा करता है कि वह उसके बच्चे को महात्मा बना दे। यह बौद्धमय की बात नहीं, तो क्या है ?

फिर भी, ऊपर के तर्कों का यह अर्थ कदापि नहीं कि ऐसी परिस्थिति में विद्यालय का कर्त्तव्य कुछ नहीं है। परिस्थिति चाहे जो भी हो, उसका कर्त्तव्य तो अक्षुण्ण ही बना रहता है। यह और बात है कि उसे अपने कार्य में पूरी सफलता मिलेगी अथवा आंशिक ही। स्पष्ट है कि बच्चों की सर्वांगीण शिक्षा में परिवार और विद्यालय दोनों का सीधा हाथ है। शैक्षिक उत्तरदायित्व से कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। सबसे उत्तम तो वह हो जब प्रत्येक घर एक सुन्दर विद्यालय हो और प्रत्येक विद्यालय एक सुन्दर घर।

औद्योगिक क्रान्ति के पहले तक शारीरिक तथा नैतिक शिक्षा के साथ-साथ प्रायः प्रत्येक परिवार अपने बच्चों को औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा भी दिया करता था, पर आज मशीनों की दुनिया में उसका यह कर्त्तव्य लुप्त होता जा रहा है। बीसवीं सदी के उद्योग-धन्धे इतने पेचीले होते जा रहे हैं कि परिवार इस उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक नहीं निभा सकता। यह ठीक है कि गाँवों में उद्योग-धन्धे आज भी अधिकांश में पुराने निकम्मे रूपों में चल रहे हैं और ग्रामीण परिवार आज भी अपने बच्चों को वही औद्योगिक शिक्षा देते जा रहे हैं, पर इसका उत्तरोत्तर लोप अवश्यम्भायी है।

जबतक हमारे घर सुन्दर न बनेंगे, जबतक उनमें स्वच्छता, सौन्दर्य तथा अन्य नैतिक गुणों का निवास नहीं होगा और जब तक वे स्वयं शिक्षित और उन्नत होकर बच्चों के शारीरिक तथा नैतिक विकास की समस्त आवश्यकताओं को नहीं समझेंगे तबतक बच्चों की शिक्षा शीघ्र तथा सर्वांगीण नहीं हो सकती।

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि स्कूल कितना ही अच्छा

क्यों न हो, वह परिवार का स्थान नहीं ले सकता। बच्चों के भावनात्मक विकास के लिए जिस प्रेम अथवा पारस्परिक रागात्मक सम्बन्ध की आवश्यकता है वह अधिकांश में परिवार ही दे सकता है, स्कूल कदापि नहीं।

खेद की बात है कि जन-कल्याण राज्य (Welfare State) की भावना जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे परिवार का उत्तरदायित्व राज्य लेता जा रहा है। जो काम अपने बच्चों के प्रति किसी दिन उनके माता-पिता का था, वह अब स्कूल तथा राज्य के हाथों में अधिकाधिक चला जा रहा है। यही नहीं, परिवार पर दूसरी चोट औद्योगीकरण के वर्तमान स्वरूप के कारण पड़ रही है। माँ-बाप उत्तरोत्तर अधिक संख्या में मिलों और कारखानों में काम करने लग गये हैं। परिणाम यह होता जा रहा है कि दिनों-दिन परिवार की स्थिति लोप होती जा रही है। संध्या समय घर लौटा हुआ परिश्रान्त पिता अपने बच्चे की शिक्षा की व्यवस्था क्या खाक करेगा? इस प्रकार बेटे से बाप छूटता जा रहा है और बाप से बेटा। जब कि यह स्वयंसिद्ध है कि घर का उचित स्थान समाज की और कोई संस्था ले नहीं सकती है, तब ऐसी परिस्थिति अवश्य गम्भीर कही जायगी।

निबलेट का कथन है कि हम जो भी कहते आ रहे हैं उसका अभिप्राय यह है कि जिस समाज में बच्चे बड़े होते हैं, वह उनका परम प्रभावशाली शिक्षक है। मूल में शिक्षा समाज और शिक्षा एक सामाजिक कार्य है। व्यवहार-प्रणालियाँ,

दृष्टिकोण, नियंत्रण तथा अनेकानेक माध्यमों द्वारा व्यक्त आदर्शों तथा भावनाओं की सहायता से समाज शिक्षण का कार्य करता है। इन सामग्रियों से जीवन की विचारधारा तथा आदर्श निर्मित हो सकते हैं।*

*“Implied in all we have been saying is the idea that the society in which children grow up is the most powerful educator they have. Education is essentially a social affair.

वात यह है कि व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक दूसरे को हर समय प्रभावित करता रहता है। व्यक्ति सामाजिक वातावरण से परिवेष्टित रहा करता है, अतः उसका प्रभाव व्यक्ति पर अवश्यम्भायी है। उसी प्रकार जो व्यक्ति जनसाधारण की अपेक्षा बहुत अधिक प्रतिभा-सम्पन्न है वह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से समाज को ऊपर उठाता है। इस प्रकार व्यक्ति का रंग समाज पर और समाज का व्यक्ति पर सदा चढ़ता रहता है। परिणाम यह होता है कि एक सीमा तक व्यक्तियों की बहुरूपता में एकरूपता सम्भव हो जाती है। यही एकरूपता समाज की सत्ता को बनाये रहती है।

परिवार के प्रारम्भिक प्रभाव के बाद समाज का प्रभाव भी व्यक्ति के ऊपर आरम्भ हो जाता है। किसी माती में तो परिवार स्वयं एक सूक्ष्म समाज है और समाज एक बृहत् परिवार। तथापि व्यक्ति के सामाजीकरण की क्रिया परिवार के बाद अथवा साथ-साथ समाज में भी चलती रहती है। स्कूल का इस सामाजीकरण में जो हाथ होता है उसका उल्लेख किया जा चुका है। सामाजिक वातावरण में पुष्पित तथा पल्लवित होकर जब तक व्यक्ति का उचित सामाजीकरण नहीं हो जाता, तब तक उसे यथार्थ में शिक्षित नहीं कहा जा सकता। केवल पढ़-लिख सकना ही शिक्षा नहीं। यह तो शिक्षा के अनेकानेक साधनों में से एक साधनमात्र है, साध्य नहीं। बहुधा देखा जाता है कि लोग भ्रमवश इस साधन को ही शिक्षा अथवा साध्य मान लेते हैं। खेद की बात है कि हमारे अनेक शिक्षक भी इस भ्रम से मुक्त नहीं हैं। इसीका परिणाम है कि हम अपने स्कूल के बच्चों को अधिकांश में शिक्षा अथवा साध्य के स्थान में साधनमात्र ही प्रदान कर संतोष कर

Society educates by handing on ways of behaving, attitudes of mind, repressions, by conveying through many media certain ideals and ideas, the raw material out of which a philosophy of living can be made."

लिया करते हैं। ऐसे ही अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित बच्चों स्कूलों से निकलने के बाद जीवन की यथार्थता की रगड़ में पड़ने पर असफल हो जाया करते हैं।

व्यक्ति के सुन्दर तथा निर्विघ्न विकास के लिए यह बड़ा आवश्यक है कि घर, स्कूल और समाज के सामान्य वातावरण में विशेष विरोध न हो। स्कूल का वातावरण यदि आदर्शस्वरूप हुआ, तो भी उसका सुन्दर प्रभाव बहुत कुछ नष्ट हो जायगा, यदि सब के वातावरण में सामञ्जस्य न हो। प्रत्येक स्कूल का यह कर्तव्य है कि अपने पाठ्यक्रम में सामाजिक सम्पर्क को स्थान दे तथा उसके उत्तम तत्त्वों को स्कूल के वातावरण में सम्मिलित करे। पारस्परिक संघर्ष से हानि और सामञ्जस्य में व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति है। इस सामञ्जस्य को संभव करने के लिए जो स्कूल प्रयत्नशील नहीं होता, वह अवश्य कर्तव्यच्युत हो जाता है। आखिर बच्चे को अपनी सारी जिन्दगी स्कूल में तो बितानी है नहीं, वह बीतेगी समाज में ही। ऐसी परिस्थिति में उस सामाजिक जीवन में सफलता की उपेक्षा, व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है। हमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना करना ही है। अतः आवश्यक है कि हमारी शिक्षा समाज के लिए, समाज द्वारा तथा समाज के ही माध्यम से हो।

समाज का भी कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की सर्वांगीण शिक्षा के लिए प्रयत्नशील हो, क्योंकि समाज की उन्नति व्यक्ति की उन्नति पर आश्रित है। बच्चों के शारीरिक विकास के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता है उन्हें प्रदान करने की चेष्टा प्रत्येक समाज को करनी चाहिए। केवल घरों तथा गाँवों की सफाईमात्र से समाज का कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता, किन्तु उसे यह भी देखना है कि बच्चों के स्वास्थ्य-वर्द्धन के लिए स्कूल में खेल का काफी मैदान है अथवा नहीं। सार्वजनिक वाटिका तथा व्यायामशालाओं का प्रबन्ध भी समाज की ओर से होना चाहिए।

बच्चों के मानसिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक वातावरण उन्मुक्त तथा उदार हो। जिस वातावरण में पद-पद पर नियंत्रण है और विचार-स्वातंत्र्य के अनुकूल परिस्थिति का अभाव है, वहाँ बच्चों को प्रत्येक सामाजिक प्रतिक्रिया के समय समाज का मुँह ताकना पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि रुढ़ियों से परिवेष्टित समाज अपने काल-मर्यादित प्रचलनों पर आधारित नमूनों को बच्चों के समक्ष रख कर यह आशा करता रहता है कि उनका प्रत्येक कार्य उन्हीं नमूनों के अनुरूप हो। उनसे भिन्न कार्य करना तो दूर रहा वह अपने बच्चों को स्वतंत्रतापूर्वक सोचने तक की अनुमति नहीं देता। 'चाहिए' और 'नहीं चाहिए' की भरमार चारों तरफ से कर दी जाती है और इन दोनों चक्कियों के बीच बच्चों का वास्तविक मानसिक विकास चकनाचूर हो जाता है। जिस सामाजिक वातावरण की भूमि में मानसिक दासता के इतने अधिक साधन इकट्ठे कर दिये जाते हैं, वहाँ उसके विकास का पौधा प्रस्फुटित और पल्लवित नहीं हो सकता। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह विचारणीय विषय है।

बच्चों के नैतिक विकास के प्रति भी समाज का उत्तरदायित्व कम नहीं है। मानना पड़ेगा कि नैतिक विकास के लिए जो अवसर स्कूल में प्राप्त है, वह बहुत कम है। बच्चों के अट्टारह-बीस घंटे प्रतिदिन स्कूल के बाहर साधारणतः कटते हैं। स्कूल के छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थियों की संख्या प्रायः बहुत थोड़ी होती है। ऐसी परिस्थिति में स्कूल और बाह्य समाज के नैतिक आदर्शों में यदि विरोध अथवा संघर्ष है तो नैतिक शिक्षा बड़ी कठिन हो जाती है। यदि समाज में बेईमानी, चोरबाजारी, घूसखोरी, कामचोरी, जातीयता, अंधविश्वास, अन्याय, पक्षपात आदि दुर्गुण प्रचलित हैं, तो उस दूषित वातावरण के प्रभावों से बच्चों को बचाना एक प्रकार से असम्भव ही हो जाता है। इन बातों का यह अभिप्राय हरगिज नहीं कि ऐसी परिस्थिति में स्कूल को चुप बैठ जाना चाहिए। संकुचित परिमाण में ही सही, स्कूल का यह कर्तव्य रह ही जाता है कि बच्चों के नैतिक विकास के

लिए वह यथासाध्य क्रियाशील हो। स्कूल का छोटा-सा समाज ऐसा है कि उसके वातावरण का स्वरूप सुन्दर सामाजिक आदर्शों के आधार पर कुछ निर्मित किया जा सकता है। इसका प्रभाव सीमित होने पर भी यह तो स्पष्ट ही है कि बच्चों को समाज के दूषित वातावरण के साथ ही अपने स्कूल में एक आदर्श वातावरण भी उपलब्ध होगा और उन्हें इन दोनों वातावरणों के तुलनात्मक अध्ययन का अवसर प्राप्त होगा और इस बात की भी अनुभूति होगी कि सुन्दर सामाजिक वातावरण की क्या रूप-रेखा हो सकती है और उसमें व्यक्तिगत जीवन कितना सुन्दर तथा सुखकर हो सकता है।

समाज का यह भी कर्त्तव्य है कि वह शैक्षिक यात्राओं (educational trips) के लिए विद्यार्थियों को विशेष सुविधा प्रदान करे। पुस्तकों के संकीर्ण संसार को पारकर हम जिस अनुपात में बृहत्तर समाज के सम्पर्क में आते हैं उसी अनुपात में हमारी शिक्षा यथार्थ और पूर्ण होती है। जितनी अधिक विचारधाराएँ तथा प्रणालियाँ हमारे सामने आती हैं हमारी प्रतिक्रियाएँ उतनी ही भिन्न रूप धारण करती हैं, उतनी ही अधिक विचारमालाएँ हमारे मस्तिष्क में प्रादुर्भूत होती हैं। अतः दूरस्थ प्रदेशों के भिन्न-भिन्न प्रचलनों तथा आचरणों का परिचय अपने विद्यार्थियों को कराना परमावश्यक है। इसके लिए समाज का कर्त्तव्य है कि वह विशेष आर्थिक दान, रेलयात्रा, निवास-स्थान आदि के प्रबन्धों में विशेष सुविधाएँ स्कूलों को प्रदान करे।

शिक्षा को पूर्ण बनाने के लिए समाज मुख्य-मुख्य स्थानों पर अजायब घर, पशु-वाटिका (zoological garden), सार्वजनिक वाटिका तथा प्रदर्शनियों का प्रबन्ध भी कर सकता है। हमारे अनुभव जितने अधिक तथा विभिन्न रूपों के होंगे हमारी शिक्षा उतनी ही पूर्ण होगी। वास्तविक तथा व्यावहारिक शिक्षा जितनी अनुभव-प्रसूत होती है उतनी पुस्तक-प्रसूत नहीं होती। पुस्तक-सीमित शिक्षा हमें पुस्तक-प्रवीण बना सकती है, समाज अथवा जीवन-प्रवीण नहीं। हमारी वर्तमान शिक्षा

के खोखलेपन के मूल में आज ये ही दोष वर्तमान हैं जिनकी ओर समाज का ध्यान यथासंभव शीघ्र आकृष्ट होना चाहिए ।

साथी भले हों अथवा बुरे, प्रत्येक बच्चे को कुछ-न-कुछ संगी-साथी मिल ही जाते हैं । मानव-प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह अकेलेपन को साधारणतः पसंद नहीं करती ।

संगी-साथियों

का प्रभाव

• यह आवश्यक भी है, क्योंकि समाज के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करना ही है । जो भी व्यक्ति

हमारे सम्पर्क में आता है, चाहे जितनी भी देर के लिए क्यों न हो, उसका थोड़ा या अधिक असर हमारे ऊपर होकर रहता है । हमारे मानसिक तथा नैतिक विकास की रूप-रेखा कई अंशों में हमारे संगी-साथियों की भद्रता तथा अभद्रता पर आश्रित हुआ करती है । इससे यह स्पष्ट है कि इनका उचित चुनाव शैक्षिक दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है । अतः हमारे अभिभावक तथा शिक्षक इसकी ओर से उदासीन नहीं हो सकते ।

स्कूल के एक ही वर्ग में चालीस-पचास बच्चे हुआ करते हैं । वे वकील, डाक्टर, इंजीनियर, शिक्षक, प्रोफेसर, सरकारी कर्मचारी, दूकानदार, व्यवसायी, मजदूर तथा किसान आदि के परिवारों से आये हुए होते हैं । उनमें कुछ परिवार निर्धन, कुछ धनी, कुछ शिक्षित, कुछ अशिक्षित, कुछ अधिक सभ्य और कुछ कम सभ्य हुआ करते हैं । स्पष्ट है कि इस प्रकार विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तरों से आये हुए बच्चे विभिन्न प्रकृति, दृष्टिकोण, विचार-धारा तथा आचरणों के होंगे । ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक बच्चा विद्यालय में प्रवेश करने के कुछ दिनों के भीतर उस विषम समुदाय के सम्पर्क में आ जाता है और उन सभी के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं । उसे पता चलता है कि केवल स्वार्थ-साधन की नीति के अवलम्बन से वह उस समुदाय में दो दिन भी टिक नहीं सकता । स्वार्थ-साधन और स्वार्थ-त्याग (give and take) की नीति की आवश्यकता उसे शीघ्र अनुभूत होने लगती है । इन दोनों के सुन्दर

सामंजस्य की ओर वह हठात् अग्रसर होने लगता है और इस तरह उसका सामाजीकरण आरम्भ होता है। विषमताओं के बीच रह कर अपने जीवन को संघर्षशून्य, शान्तिमय तथा सफल बनाना किसी भी शिक्षा-योजना का महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारे विद्यालयों का कर्तव्य है कि वे इसे सफल बनाने में सभी संभव तथा उचित उपायों का अवलम्बन करें।

इसी सामूहिक जीवन में बच्चे को अभिज्ञान होता है कि जिन अधिकारों को वह अपने लिए आवश्यक समझता है वे औरों के लिए भी वैसे ही आवश्यक हैं; यदि वह नहीं चाहता कि अन्य उसके अधिकारों पर आक्रमण करें तो उसका भी कर्तव्य हो जाता है कि दूसरों के अधिकारों पर वह हरगिज हमला न करे। उसे धीरे-धीरे इसका भी अभिज्ञान होता है कि आत्मानन्द के लिए आत्म-निर्धन भी परमावश्यक है। अपनी विचार-स्वतंत्रता तथा कार्य-स्वतंत्रता के साथ-साथ हम औरों की इन स्वतंत्रताओं को समझना आरम्भ कर देते हैं। विचारों की उदारता भी सामाजिक जीवन में ही हम प्राप्त करते हैं।

शिक्षकों का ध्यान इस पर केन्द्रित होना चाहिए कि बच्चों की संगति राजनैतिक तथा धार्मिक पक्षपात से कलुषित न होने पावे। इनसे न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन दुःखमय हो जाता है, किन्तु हमारा राष्ट्रीय जीवन भी किसी अंश में छिन्न-भिन्न तथा बलहीन हो जाता है। अभिभावकों का भी कर्तव्य है कि अपने बच्चों की संगति के सम्बन्ध में वे सदा सतर्क रहें। अच्छी संगति यदि हमें उन्नति के उच्चतम शिखर पर ले जा सकती है तो बुरी संगति सर्वनाश भी करा सकती है।

सामाजिक तथा सरकारी सहायता के आधार पर अनेक उन्नत देशों में युवकों के अनेकानेक संगठन (organizations) स्थापित कर दिये गये हैं। इन संगठनों का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के हित के कामों में नवयुवकों की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ व्यवहृत हों। बात यह है कि ये शक्तियाँ उनमें वर्तमान हैं और उनकी अभिव्यक्ति अथवा उपयोग होना ही है। यदि अच्छे और कल्याणकारी

कार्यों में उन शक्तियों को खर्च करने के लिए उचित साधन और अवसर बच्चों को नहीं दिये गये तो वे शक्तियाँ व्यक्ति तथा समाज-विरोधी कार्यों में खर्च होकर रहेंगी। इसलिए सरकार, समाज, शैक्षिक संस्थाएँ तथा अभिभावकों का यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे युवकों की संचित शक्तियों के सुन्दर उपयोग के लिए सारे साधन और अवसर प्रदान करें। स्काउट, गर्ल गाइड, नाट्य परिषद्, खेल-प्रतियोगिता, श्रमदान-समिति, जन-सम्पर्क समिति, ग्राम-सेवा-समिति आदि समितियाँ स्कूलों में स्थापित की जा सकती हैं। पुस्तकों के अध्ययन में मानसिक शक्ति खर्च होती है, पर शारीरिक शक्तियाँ संचित ही रह जाती हैं। इसीलिए, इस प्रकार की समितियों की आवश्यकता सामने आ जाती है। शक्तियों को व्यय कर देना मात्र हमारा ध्येय नहीं, हम तो शैक्षिक लाभ को प्राप्त करते हुए उन शक्तियों को व्यय करना चाहते हैं। इस प्रकार की समितियों के कार्यों के उचित सम्पादन में शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक तीनों विकास संभव है। यह भाव हम शिक्षकों को दूर कर देना है कि शिक्षा के साधन केवल पुस्तक हैं और शिक्षा-केन्द्र केवल स्कूल।

सन्तोष की बात है कि स्कूलों के निजी व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ कार्य अब होने लग गये हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारी भारत-सरकार के तत्त्वावधान में अब नवयुवक-महोत्सव (Youth Festival) मनाया जाने लगा है। इस समारोह में भारत के विभिन्न राज्यों से नवयुवक सम्मिलित होते हैं। कई दिनों तक यह जलसा चलता रहता है और इसके विभिन्न कार्यक्रम शैक्षिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हुआ करते हैं। तथापि इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि देश के नवयुवकों की विशाल संख्या की दृष्टि से ऐसे समारोह का लाभ बहुत अधिक सीमित है।

इन समितियों के अतिरिक्त माध्यमिक स्कूलों में बौद्धिक गोष्ठियाँ भी समय-समय पर आयोजित की जा सकती हैं। इनमें जीवन की सामान्य घटनाओं तथा समस्याओं पर विचार-विमर्श हो सकता है।

उन प्रश्नों के प्रत्येक पहलू को अच्छी तरह समझने तथा मूल्यांकन करने की चेष्टा भी की जा सकती है। ये गोष्ठियाँ मानसिक विकास के सुन्दर साधन बन सकती हैं।

ग्रामों को छोड़ भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े नगरों में आज सिनेमा-घर दिखाई देने लग गये हैं और सिनेमा देखने की प्रवृत्ति भी नवयुवकों में उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है। इन चलचित्रों का प्रभाव बच्चों के सहज ग्रहणशील मस्तिष्क पर बहुत होता है। यह और बात है कि वह प्रभाव अच्छा है या बुरा। जैसे चित्र होंगे उनका प्रभाव भी वैसा ही पड़ेगा। यह प्रभाव इतना गहरा, तथापि इतना प्रच्छन्न, हुआ करता है कि प्रभावित व्यक्तियों को इसका उस समय प्रायः पता तक नहीं होता।

इन चित्रों के अभिनेता तथा अभिनेत्रियाँ हमारे नवयुवकों तथा नवयुवतियों के आदर्श बन जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी वेशभूषा, उनके बोलने-चालने के ढंग तथा उनकी कार्य-प्रणालियाँ नवयुवकों के लिए नमूने बन जाती हैं। इनकी सहज अनुकरणशील वृत्ति उनकी हर बात में नकल करने को इन्हें विवश कर देती है।

इस व्यापक तथा स्थायी प्रभाव के कारण सिनेमा का शैक्षिक महत्त्व बहुत अधिक है। यह ठीक ही कहा गया है कि सौन्दर्योपासना को उन्नत बनाने, उत्तम मानव आदर्शों के प्रचार, साहस, देशप्रेम तथा अन्य सामाजिक आदर्शों के लिए यदि सिनेमा का उचित प्रयोग नहीं किया गया तो प्रायः निश्चय ही इसका अनुचित प्रयोग हो जायगा।

*“If the cinema is not put to the right uses (for enhance-ment of tastes, for propagation of worthy human ideals, for courage, loyalty and other socially desirable values) it will almost certainly be put to the wrong ones.”

खेद की बात है कि अपने देश में आज-कल अधिकांश चित्र व्यावसायिक सिद्धान्तों पर तैयार किये जाते हैं। पैसा बनाना उनका मुख्य मतलब होता है। यही कारण है कि अधिक-से-अधिक संख्या में नवयुवकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए वे स्त्री-पुरुष के ऐसे-ऐसे सम्बन्धों को चित्रित करते हैं जिनसे हमारे युवकों में वासना की वृद्धि होती है और कई अंशों में नैतिक पतन भी होता है। इसका परिणाम अब यह देखा जा रहा है कि हमारे पथभ्रष्ट विद्यार्थी प्रायः दिन में राजपथों पर अभद्र आचरण कर बैठते हैं जिनसे उनके माता-पिता तथा आगे चल कर स्वयं वे लज्जित होते हैं। इस उत्तरोत्तर बढ़ते जानेवाले अमंगल आचरणों के ऊपर अभिभावकों, शिक्षा के अधिकारी वर्गों तथा सरकार का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। सरकार की ओर से इस प्रकार के व्यवसाय पर कठोर नियंत्रण होना अवश्य है। व्यावसायिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं कि समाज की हानि कर दी जाय। हम अपने बच्चों को, जो राष्ट्र के भावी नागरिक तथा सूत्रधार होंगे इस प्रकार आचारभ्रष्ट नहीं होने दे सकते।

सरकार को कठोर नियंत्रण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। केवल ऐसा प्रयत्न तो नास्त्यात्मक कहा जायगा। राष्ट्रीय सरकार से हम तो यह भी आशा करेंगे कि वह स्वयं अधिक संख्या में शैक्षिक फिल्मों को तैयार करवावे, ताकि विद्यालयों को सुगमता से नाममात्र की फीस देकर वे फिल्में प्राप्त हो जायें। ऐसे चित्रों की व्यवस्था सरकार की ओर से इसलिए और भी आवश्यक हो जाती है कि इनमें आर्थिक लाभ की संभावना कम ही रहेगी और इसी कारण से व्यावसायिक कम्पनियाँ साधारणतः इनके तैयार करने में हाथ नहीं देंगी।

और भी, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय रंगमंच पर होनेवाली आये दिन की घटनाओं की फिल्में भी सरकार की ओर से अधिक संख्या में तैयार की जानी चाहिए। सभी उन्नत देशों की सरकारें अपने इस कर्त्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर रही हैं। संतोष की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हो चुका है

और कुछ ठोस काम इस दिशा में किया भी जा चुका है तथा किया जा रहा है ।

फिल्में बुरी नहीं हुआ करतीं, बुरी फिल्में बुरी हुआ करती हैं । फिल्मों की असीम शैक्षिक सम्भावनाओं को हम अपनी आँखों से ओझल कैसे कर सकते हैं । फिल्म इनक्वाइरी कमिटी के अध्यक्ष श्री पाटिल ने १९५१ ई० में ठीक ही कहा था कि अनेक दिशाओं में ये चल-चित्र शिक्षक के कार्य के केवल पूरक ही नहीं हो सकते हैं प्रत्युत ऐसे भी लाभ संभव कर सकते हैं जो कोई मौखिक शिक्षण संभव नहीं कर सकता, विशेषकर उन विषयों के पढ़ाने में जो साधारणतः विद्यार्थियों के दृष्टि-ग्त पर नहीं हैं, चाहे वह इतिहास हो, अतीत की कोई घटना हो, भूगोल अथवा प्राणिशास्त्र की प्रक्रियाएँ हों जो प्रत्यक्ष देखी नहीं जा सकती है ।*

अब तो शुद्ध शैक्षिक फिल्में बनाई जाने लगी हैं । अन्य उन्नत देशों में सरकार की ओर से इस प्रकार की फिल्में बहुत बड़ी संख्या में बनाई जाती हैं और तमाम स्कूलों में वे दिखाई जाती हैं । भारत में भी इसका श्रीगणेश हो चुका है, पर अभी तक इनका सामूहिक प्रयोग बहुत सीमित है । हमारे विद्यार्थी अधिकांश में निर्धन हैं । उनके लिए यह संभव नहीं है कि दूर-दूर जाकर विभिन्न वस्तुओं तथा पुरुषों को देखें । ऐसी अवस्था में फिल्में और भी अधिक आवश्यक हो जाती हैं ।

सिनेमा और समाचार-पत्रों की तरह रेडियो भी एक सुन्दर शैक्षिक साधन हो सकता है । अपने देश में रेडियो भारत-

*“The various directions in which the film can not only supplement the work of the teacher but achieve results which no amount of oral teaching can bring about, particularly in the presentation of a subject beyond the normal visual reach of the pupil, whether it is history, incidents connected with past periods, geography or biological processes that cannot be seen directly.”

सरकार के आधिपत्य में है। कुछ दिन पहले तक इसका संचालन प्रायः व्यावसायिक सिद्धान्तों पर होता था, पर इस नीति में कुछ परिवर्तन हुए हैं। विद्यार्थियों के लाभ के लिए रेडियो और शिक्षा अब कुछ शैक्षिक कार्यक्रम भी इसमें सम्मिलित किए जाते हैं, पर इससे जितना लाभ होना चाहिए उतना वास्तव में नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि हमारे अधिकांश स्कूलों को अपना रेडियो सेट नहीं है। जहाँ यह सेट है भी वहाँ इससे पूरा लाभ उठाया नहीं जा रहा है। महज रेडियो को शैक्षिक कार्यक्रमों के समय चालू कर देने से कुछ नहीं होता। हमें यह भी देखना चाहिए कि हमारे विद्यार्थी इसमें अभिरुचि रखते, ध्यानपूर्वक सुनते और समझने की चेष्टा करते हैं। अधिक सुन्दर तो यह है कि प्रत्येक रेडियो-प्रोग्राम के बाद १०-१५ मिनटों का ऐसा समय होना चाहिए जिसमें बच्चे सुनी हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में अपने शिक्षकों से कुछ प्रश्न पूछ सकें अथवा शिक्षक स्वयं कुछ प्रश्न कर दें, ताकि उन्हें यह कुछ निश्चित रूप में मालूम हो जाय कि बच्चों ने रेडियो के उस कार्यक्रम को रुचिपूर्वक सुना है और समझा भी है।

खेद की बात है कि अभी तक अधिकांश में रेडियो का प्रयोग फ़िल्मी गानों को सुनने के लिए किया जा रहा है। जिधर भी जाइए आप फ़िल्मी गाने बजते सुनेंगे। रेडियो का कुछ दूसरा प्रयोग भी यदि साथ-साथ है तो वह अल्प काल के लिए समाचारों के लिए है। यह अभिप्राय नहीं है कि रेडियो मनोरंजन का साधन न हो। मनोरंजन स्वयं एक बड़ी आवश्यक वस्तु है, पर रेडियो को केवल मनोरंजन का साधन बनाना उचित नहीं।

रेडियो के शैक्षिक कार्यक्रमों को लोकप्रिय बनाने के लिए सभी संभव उपायों को काम में लाना चाहिए। इसकी सफलता के लिए सरकार, शिक्षक तथा अभिभावकों का पूर्ण सहयोग आवश्यक है। सरकार की ओर से इसका प्रयत्न होना चाहिए कि वे कार्यक्रम न केवल शैक्षिक हों, किन्तु मनोहर भी हों। भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों से

सामग्री लेकर उसे नीरस ढंग से प्रदान करने से सफलता नहीं होगी। न केवल सामग्री, प्रत्युत उसके प्रदान करने की प्रणाली भी मनोहर होनी चाहिए। सामग्री के चयन में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह बच्चों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली हो। सुनने के बाद उन्हें ऐसा प्रतीत होना जरूरी है कि उससे उनका तात्कालिक लाभ किसी-न-किसी रूप में हुआ है। अनेक बातें जो पहले उनके समक्ष पहेलियाँ प्रतीत होती थीं अब उनका रहस्योद्घाटन हो रहा है अथवा उनके जीवन की जो सामान्य कठिनाइयाँ हैं वे रेडियो के कार्यक्रम को सुनने से कई अंशों में दूर होती जा रही हैं। तात्कालिक लाभ की यह भावना रेडियो के कार्यक्रम में उनकी रुचि को पुष्ट बनाये रहेगी। बिना किसी लाभ के व्यस्क भी किसी काम को अधिक दिनों तक नहीं चला सकते, बच्चे तो बच्चे ही हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि बच्चे भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्त्व देते हैं और सुदूर भविष्य की अपेक्षा निकट भविष्य को। अतः कार्यक्रम के सामग्री-चयन में बाल प्रकृति के इस मोटे सिद्धान्त को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

सामग्री के सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक बात यह है कि वह बच्चों की समझ के अन्तर्गत होनी चाहिए। गंभीर विषय, सुन्दर और आवश्यक होकर भी, बच्चों को नीरस मालूम हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त शैक्षिक कार्यक्रमों की भाषा बच्चों की क्षमता के अन्तर्गत हो और सुन्दर हो। बच्चों की समय-सम्बन्धी सुविधा को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

ऊपर जो आवश्यकताएँ बताई गई हैं वे अधिकांश में सरकारी स्तर पर होनेवाली हैं, क्योंकि अखिल भारतीय आकाशवाणी के ऊपर पूरा आधिपत्य सरकार का ही है। पर सरकार के द्वारा इतना हो जाने पर भी स्कूल तथा परिवार के स्तर पर भी कुछ आवश्यक बातें करनी पड़ेंगी। प्रत्येक विद्यालय को अपना रेडियो सेट होना चाहिए। इसमें कुछ सरकारी सहायता मिल सके तो अच्छा ही है। नहीं मिलने पर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। स्कूल के अधिकारी प्रतिवर्ष

स्कूल-प्रवेश (admission) के समय इसके लिए कुछ फी या शुल्क वसूल कर सकते हैं अथवा विद्यार्थियों और शिक्षकों की टोली निकटवर्ती ग्रामों तथा नगर में घर-घर घूम कर कुछ रुपये इकट्ठे कर सकती है । बात यह है कि चाह होने पर राह मिल जा सकती है । चार-पाँच सौ विद्यार्थीवाले स्कूल-के लिए एक बार चार-पाँच सौ रुपये इकट्ठे कर पाना असंभव क्या, कठिन भी नहीं है ।

यदि रेडियो के कार्यक्रम वास्तव में बच्चों के लिए उपयोगी हैं, तो उनके मन में उन कार्यक्रमों के प्रति रुचि उत्पन्न करना शिक्षकों के लिए कोई मुश्किल नहीं है । संभव है, कुछ कार्यक्रमों की सामग्री बच्चों को जहाँ-तहाँ कुछ कठिन मालूम पड़े । ऐसी कठिनाइयाँ अवश्य दूर हो जानी चाहिए ।

वर्तमान परिस्थिति में हमारे अभिभावक इस सम्बन्ध में कोई ठोस काम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अधिकांश में उन्हें इतनी आर्थिक सुविधा नहीं है कि वे एक-एक सेट अपने घरों में रख सकें । संतोष की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद अपने देश में ही रेडियो सेट बनने लग गये हैं । इसके उत्तरोत्तर प्रसार से यह आशा की जा सकती है कि वह दिन बहुत दूर नहीं जब अधिकांश घरों में हमें रेडियो सेट दिखाई देंगे ।

रेडियो की महत्ता तथा उपयोगिता अधिक होकर भी इतनी अधिक कभी नहीं होगी कि वे विद्यालयों में हमारे शिक्षकों के स्थान ले लें । तथापि यह स्वीकार करने की बात है कि न केवल वर्ग के अन्दर पढ़ाने के कार्य में ये सहायक हो सकते हैं, पर देश में निरक्षरता-निवारण तथा शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से भी ये कुछ ठोस काम कर सकते हैं । वयस्कों की शिक्षा में भी रेडियो की देन बहुमूल्य हो सकती है । और भी, आज-कल की लेख-प्रधान (essay type) परीक्षा के स्थान में यदि हम नवीन परीक्षा-प्रणाली (new type tests) अपने स्कूलों में आरम्भ कर दें तो जिला या राज्य के स्तर से रेडियो द्वारा राज्य-भर के स्कूलों में प्रश्न सुना दिये जा सकते हैं और दूसरे दिन बच्चों के इन प्रश्नों के उत्तर कर

लेने के बाद रेडियो द्वारा ही सही उत्तर सुना दिये जा सकते हैं और वर्ग में बैठे हुए बच्चे अपनी-अपनी भूलों को स्वयं सुधार भी ले सकते हैं। पूर्णश में नहीं तो अल्पांश में यह कार्य रेडियो द्वारा अवश्य किया जा सकता है।

दुर्भाग्यवश इस समय अपने स्कूलों तथा कॉलेजों में शिक्षण का स्तर उतना ऊँचा नहीं है। अप्रासंगिक होने के कारण हम इस स्थल पर उसके मूलभूत कारणों की छानबीन नहीं करना चाहते। कभी-कभी योग्य व्यक्तियों के द्वारा ऐसे कार्यक्रम प्रसारित किये जा सकते हैं जो पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विषयों से सम्बन्ध रखते हों। ऐसे कार्यक्रम हमारे शिक्षार्थियों को लाभ पहुँचाने के अतिरिक्त हमारे शिक्षकों के लिए भी आदर्श अथवा नमूने बन सकते हैं। अच्छे आदर्शों का परिचय उन्नयन का कारण हो सकता है।

— — —

अध्याय १०

शिक्षा में प्रकृतिवाद

(Naturalism in Education)

“Education finds its purpose, its process, and its means wholly within the child life and the child experience.”

—*Rousseau.*

“The child is the starting point, the centre and the end. His development, his growth is the ideal.”

—*John Dewey.*

“Human institutions are one mass of folly and contradiction..... God makes all things good; man meddles with them and they become evil.....you must make your choice between the man and the citizen. You cannot train both. Men are devoured by our towns.....Reverse the usual practice and you will almost always do right.....what is to be thought, therefore, of that cruel education which sacri-

fices the present to an uncertain future, that burdens a child with all sorts of restrictions and begins by making him miserable, in order to prepare him for some far-off happiness which he may never enjoy.

—Rousseau

दर्शन और शिक्षा में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध समझा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि दर्शन की आधारशिला पर शिक्षा का स्वरूप निर्मित होता है और यही मत दर्शन और शिक्षा अधिकांश में मान्य है। दर्शन सनातन सत्य, सिद्धान्त, आदर्श तथा मान्यताओं का अनुशीलन तथा उनकी विवेचना करता है और शिक्षा उन्हीं सिद्धान्तों और मान्यताओं के अनुकूल अपने उद्देश्य, पाठ्यक्रम तथा शिक्षा-प्रणालियाँ आदि निर्धारित करती है। इसलिए कुछ शिक्षाविद् शिक्षा को दर्शन का गत्यात्मक अथवा क्रियाशील स्वरूप मानते हैं।

उपर्युक्त मत के विरुद्ध कुछ प्रयोजनवादी (Pragmatists) विद्वान् यह मानते हैं कि दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बाद की वस्तु है। पहले तो मानव-क्रिया-शीलता अपने वातावरण के संघर्षस्वरूप स्वभावतः सम्पन्न होती है। इन्हीं क्रिया-कलापों में कार्य-कारण-सम्बन्धी कुछ ऐसे सनातन सत्य परिलक्षित होते हैं; इन्हीं विषयताओं के बीच कुछ ऐसी समानताएँ, कुछ ऐसे सिद्धान्त तथा मान्यताएँ पैनी दृष्टियों के लिए दिखाई पड़ने लगती हैं जो आदर्श रूप में ग्रहण होने लगती हैं। इन्हीं सत्यों और सिद्धान्तों की क्रीड़ाभूमि में दर्शन का जन्म होता है। इस प्रकार क्रियाएँ—शैक्षिक अथवा अन्य—पहले आती हैं और आदर्श अथवा दर्शन उनके बाद।

जो भी हो, दोनों मत तर्कपूर्ण हैं। उनकी पारस्परिक विभिन्नता दार्शनिक विवादों के लिए चाहे जितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, दैनिक शिक्षण-कार्य के लिए अधिक महत्व की नहीं है।

कभी-कभी प्रायः एक-सी अवस्था बहुत दिनों तक वर्तमान रह जाया करती है। उस दीर्घ-कालीन परिस्थिति में कुछ सिद्धान्तों तथा

आदर्शों का जन्म हो जाता है। कुछ ऐसी प्रकृतिवाद मान्यताएँ, कुछ ऐसे आदर्श समाज में चल

पड़ते हैं, जिनके पालन से सामाजिक जीवन व्यवस्थित तथा सुखप्रद हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उन सिद्धान्तों और आदर्शों को एक सामूहिक मान्यता प्राप्त हो जाती है और ये ही आदर्श और सिद्धान्त प्रायः तत्कालीन नीतिशास्त्र अथवा धर्मशास्त्र के अभिन्न अंग बन जाया करते हैं। पर, परिस्थिति सदा एक जैसी रहनेवाली वस्तु नहीं। उसमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है—मंद गति से अथवा तीव्र गति से। यह परिवर्तन तो पारस्परिक विभिन्नताओं के कारण मंद-मंद गति से स्वभावतः होता चलता ही है, पर कभी-कभी हिंसात्मक या अहिंसात्मक रूप धारण कर द्रुत गति से भी चल पड़ता है।

कोई भी आदर्श अथवा सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय होने के कारण जब बहुत दिनों तक चलते रह जाते हैं और परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने पर भी उनका रूप परिवर्तित नहीं होता तो वे ही रुढ़ियाँ कहे जाने लगते हैं। समाज के अधिकांश लोग उन सिद्धान्तों और परम्परागत परिपाटियों को भाग्य के अमिट लेख की तरह मान कर उनसे चिपके रहते हैं। इस तरह एक अच्छी वस्तु भी प्रकृति की परिवर्तनशीलता के कारण बुरी, अनावश्यक तथा हानिप्रद बन जाती है। ऐसी ही परिस्थितियों में क्रान्ति अथवा भयानक प्रतिक्रियाओं का आविर्भाव होता है। समाज के कुछ प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति प्रचलित सिद्धान्तों और आदर्शों का हिंसात्मक अथवा कभी-कभी अहिंसात्मक (बुद्ध तथा गांधी) विरोध करते हैं, और इस तरह एक नई विचारधारा अथवा दार्शनिक सिद्धान्त सामाजिक क्षेत्र में अवतरित होकर मान्यता प्राप्त करने लग जाता है।

प्रकृतिवाद भी एक दार्शनिक विचारधारा है और इसके जन्म की कथा भी प्रायः ऐसी ही है। जब प्रचलित विचार-धारा स्वाभाविक

परिवर्तनशीलता के कारण प्रचलित परिस्थिति से दूर जा पड़ती है और अनुपयुक्त प्रतीत होने लगती है; जब सामाजिक जीवन में कृत्रिमता तथा अस्वाभाविकता जकड़ने लगती है तब प्रकृतिवाद का जन्म होता है। इस कृत्रिमता से ऊब कर कुछ प्रतिभासम्पन्न असन्तुष्ट व्यक्ति 'प्रकृति की ओर लौटो' (Back to Nature) का नारा बुलन्द करने लगते हैं और प्रचलित सिद्धान्तों का घोर प्रतिवाद कर उनके खोखलेपन को जनसाधारण की दृष्टि में प्रत्यक्ष करने लग जाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि आज की क्रान्ति कालान्तर में खड़ि बन जाती है और उसके प्रति भी एक नई क्रान्ति प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हो जाती है।

इसी प्रकार एक प्रचलित शिक्षा-प्रणाली जब कालान्तर में जटिल, अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त हो जाती है तब शिक्षा के क्षेत्र में भी एक नवीन दार्शनिक विचारधारा का आविर्भाव होता है और शैक्षिक उद्देश्य, पाठ्यक्रम तथा प्रणालियों में परिवर्तित होने लगता है। कोई जरूरी नहीं कि नवीन प्रणालियाँ, नए सिद्धान्त अथवा नई दार्शनिक विचारधारा सर्वोत्तम ही हो। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि एक क्रान्ति के फलस्वरूप जो कोई नवीन विचारधारा सामाजिक क्षेत्र में अवतरित होती है वह तत्कालीन परिस्थिति से प्रायः अधिक उपयुक्त हुआ करती है।

यों तो प्रकृति के पुजारी प्रत्येक काल में कुछ-न-कुछ होते आये हैं, जिन्होंने प्रकृति का समर्थन किसी-न-किसी अंश में किया है, तथापि

प्रकृतिवाद का
प्रवर्तक रूसो

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आधुनिक काल के प्रकृतिवादी आन्दोलन का प्रमुख प्रवर्तक रूसो ही है। तत्कालीन समाज की अस्वा-

भाविकता को देख कर उसका भावुक हृदय हाहाकार कर उठा। कृत्रिमता के कर्दम में कराहते हुए सरलात्मा शिशु को देख कर क्रान्ति की भावनाओं से उसका हृदय ओतप्रोत हो गया। समाज की सारी संस्थाएँ उसे निस्सार प्रतीत होने लगीं। उसे ऐसा अनुभूत होने लगा कि समस्त सामाजिक जीवन कृत्रिमता की दलदल में पड़ कर प्रकृति से

दूर जा पड़ा है। सारे सामाजिक प्रचलन उसे उलटे और अस्वाभाविक प्रतीत होने लगे। बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति की यह निर्मम हत्या उससे देखी नहीं गई। अतः प्रकृति के पक्ष में उसने अपनी आवाज बुलन्द की। इस प्रकार एक प्रकृतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। रूढ़ि-ग्रस्त समाज ने रूसो का घोर विरोध किया, पर यह कोई नई बात थी नहीं। प्रत्येक प्रवक्तक को इस प्रकार के विरोध का सामना करना ही पड़ता है। रूसो ने भी किया—और सफलतापूर्वक। आरम्भ में चन्द सुननेवालों ने इस प्रकृति के पुजारी की आवाज सुनी, उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक लोगों ने। धीरे-धीरे इस प्रकृतिवादी आन्दोलन की छाप सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर पड़ी। शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता नहीं रह पाया। स्वयं रूसो ने ही प्रचलित अस्वाभाविक शैक्षिक पद्धति का घोर विरोध किया और उसे प्रकृतिवादी स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की। इस प्रकार शैक्षिक प्रकृतिवाद का सूत्रपात हुआ।

शैक्षिक प्रकृतिवादी बालक की प्रकृति, उसकी स्वाभाविक मनो-वृत्ति तथा रुचियों को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और इन्हीं

मनोवृत्तियों को शिक्षा की आधारशिला बनाने के लिए जोर डालते हैं। वे इस बात को

स्वीकार करने को तैयार नहीं कि बालक स्वभाव से दुष्ट होते हैं अथवा बालकों की प्रकृति स्वभावतः बुरे कर्मों की ओर अभिमुख होती है और यदि इसे उचित शिक्षा तथा नियंत्रण द्वारा सुमार्ग की ओर आकृष्ट नहीं किया जाय तो वह कुत्सित कर्मों में संलग्न हो जाती है। इसके विपरीत शैक्षिक प्रकृतिवादियों की धारणा है कि ईश्वर अथवा प्रकृति की गोद से आया हुआ बालक प्रपंचविहीन पवित्रात्मा हुआ करता है और दुर्भाग्यवश कृत्रिम तथा गर्हित समाज के कलुषित वातावरण में पड़कर अपनी प्रकृति-प्रदत्त पवित्रता खो बैठता है। अंगरेजी का प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ भी बालक को नैसर्गिक गुणों का आगार (Trailing clouds of glory) मानता है।

शिक्षा अथवा सामाजिक सम्पर्क से परिवर्तित बालक को प्रकृतिवादी अधिक महत्त्व नहीं प्रदान करते। सामाजिक कोलाहल और कुत्सित वातावरण से दूर बालक के स्वाभाविक स्वरूप को वे अधिक महत्त्व देते हैं और उसी स्वरूप को बनाये रखने पर जोर देते हैं। शिक्षा द्वारा वे बालक के ऊपर सामाजिक आदर्शों को लादना पसन्द नहीं करते। प्रकृतिवादियों का विचार है कि सबसे अच्छी शिक्षा वह है कि बालक की प्रकृति अकृत्रिम परिस्थिति में स्वयमेव विकसित होने दी जाय। बालक को बालक नहीं समझना, अथवा प्रौढ़ों के आदर्श या कार्य-प्रणालियाँ छोटे बच्चों के ऊपर उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक लादना अस्वाभाविक और अहितकर है। प्रौढ़ व्यक्ति बालकों के लिए एक सुन्दर भविष्य स्वरूप की कल्पना कर लिया करते हैं और उसी अनिश्चित भविष्य को प्राप्त करने के प्रयत्न में बालक के स्वर्णिम और सुखद वर्तमान की हत्या कर बैठते हैं। इस बात की क्या गारंटी है कि जिस सुन्दर, सुखद और सुहावने भविष्य को वे प्रौढ़ अपने बच्चों के लिए सुलभ करना चाहते हैं वह संभव हो ही जायगा। अगर नहीं हुआ अथवा कालान्तर में कल्पित भविष्य की रूपरेखा ही बदल गई तो भविष्य तो गया ही, सुखद वर्तमान भी दुःखद बना दिया गया। उत्तम तो यह है कि शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्य-क्रम तथा शिक्षण-प्रणाली आदि बाल-प्रकृति तथा बाल-अनुभवों के आधार पर ही निश्चित किये जायें। ऐसी ही शिक्षा स्वाभाविक शिक्षा है, यही शिक्षा बालकों के लिए सुखद है और इसी शिक्षा से बालक तथा समाज का कल्याण संभव है। शिक्षक, शिक्षालय तथा समाज का कर्त्तव्य है कि वे बालक के स्वाभाविक विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करें तथा उसे प्रौढ़ों के लिए उपयुक्त नियमोपनियम, नीति तथा आदर्शों से न जकड़ दें। हमें यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि बालक बालक ही हैं, छोटे आकार के प्रौढ़ नहीं। प्रकृतिवादी हमें बताते हैं कि हमें बालकों की राह में टाँग नहीं अड़ानी चाहिए। अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल उन्हें क्रियाशील होने देना चाहिए। बातें बिगड़ती हैं स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध करने में, न कि उसके अनुकूल कार्य करने में।

इतना ही नहीं, प्रकृतिवादी वर्ग-शिक्षण प्रणाली (Class-teaching) को भी बुरा बताते हैं। उनका कहना है कि यह प्रणाली यह मान लेती है कि वर्ग के सारे बच्चे एक-एक-एक की अभिरुचि एक-सी है, उनकी मानसिक प्रतिभा एक-सी है, उनकी शारीरिक शक्ति एक-सी है, एक ही शिक्षण-प्रणाली वर्ग-भर के बच्चों के अनुकूल है तथा सभी बच्चे एक निश्चित अवधि तक एक ही काम करना चाहते हैं। इन तमाम बातों का ऐसा अनुमान अवश्य तथा स्पष्टतः भ्रमपूर्ण है। एक ही प्रकार की शैक्षिक संस्था में तमाम बच्चों को बाँध रखना अस्वाभाविक है, ऐसी शिक्षा बाल-केन्द्रित शिक्षा कदापि नहीं कही जा सकती।

प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि कर्मों की शुद्धता के लिए अनुभवों तथा तर्कों का आश्रय लेना भ्रमपूर्ण है। कुकर्मों की भी पुष्टि तर्कों द्वारा की जा सकती है। अन्तःप्रवृत्तियों, प्राकृतिक इच्छाओं पर जो कर्म आधारित होते हैं, वे ही सत्कर्म हुआ करते। कल्पित समाज के कुत्सित कर्मों की नकल जब तक बालक नहीं करता अथवा नकल करने के लिए विवश नहीं किया जाता, तब तक उसके कर्म स्वाभाविक और शुद्ध हुआ करते। कॉमेनियस ने भी प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही बालक की शिक्षा का आयोजन करने का आदेश दिया था। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन रूसो के द्वारा चरम सीमा को पहुँच गया। सुषमा और सरलता के आगार बालक के नैसर्गिक गुणों की महत्ता को स्वीकार करते हुए रूसो ने चेतावनी दी कि सामाजिक कृत्रिमता तथा अस्वाभाविकता की छूत से बालक को बचाओ।

रूसो के मतानुसार बाल-शिक्षा शिक्षक, शिक्षालय तथा पाठ्य पुस्तकों पर आधारित नहीं होनी चाहिए। प्रकृति के प्रांगण में बालक की नैसर्गिक मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से होनी चाहिए। इसीसे बालक का मानसिक विकास संभव है, यही सही शिक्षण-प्रणाली है और इसीका नाम प्राकृतिक शिक्षा है। परम्परागत सविधिक शिक्षण-प्रणाली (formal education) बच्चों के सच्चे हित में नहीं। शिक्षा अन्तर्विकास को कहते हैं, बाहरी ठूसठाँस को नहीं।

बालक को स्वाभाविक काम करने दो, उन्हें स्वाभाविक रीति से बढ़ने दो। निषेध और नियंत्रण द्वारा उनके कर्मों की स्वतंत्रता को मत छीनो। यह आशा करना छोड़ दो कि बच्चे प्रौढ़ों के सदृश आचरण करेंगे। बालक बुरा पैदा नहीं होता, सामाजिक कुचेष्टाओं द्वारा वह बुरा बना दिया जाता है। इन्हीं कुचेष्टाओं को तथा दूषित सामाजिक वातावरण को देखकर प्रकृतिवादी चिल्ला उठता है—‘प्रकृति की ओर लौटो।’

आधुनिक काल में मानस-विश्लेषण की क्रिया में अपूर्व प्रगति हुई है। फ्रायड तथा युंग आदि मनोवैज्ञानिकों के अथक परिश्रम के परिणाम-स्वरूप मानस-विश्लेषण-शास्त्र का निर्माण हो गया है जो मनोविज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा माना जाता है।

मानस-विश्लेषण-शास्त्र ने प्रकृतिवाद का जोरदार समर्थन किया है। उसने अनेकानेक प्रयोगों द्वारा इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि बचपन में उनकी इच्छाओं का दमन करने का बुरा परिणाम उसके ऊपर आजीवन बना रहता है और इस शास्त्र ने शिक्षकों तथा अभिभावकों को चेतावनी दी है कि वे बच्चों के अरमानों को कुचलने की कुचेष्टा कदापि न करें। स्वाभाविक अभिसृचियों की अभिव्यक्ति अबाध गति से होती रहनी चाहिए। प्रौढ़ों के लिए जो आचरण अथवा आदर्श उपयुक्त प्रतीत होते हों वे नन्हें बच्चों के ऊपर हरगिज न लादे जायँ। इनसे बच्चों की स्वतंत्रता छिन जाती है और उनका स्वाभाविक विकास कुण्ठित हो जाता है। यह प्रायः इस प्रकार के बलात्कार का ही परिणाम है कि बच्चे भूठ बोलने, चोरी करने, धोखा देने, विद्यालय से भाग जाने, आज्ञा भंग करने, छुप-छुप कर पाप करने आदि कुकर्मों को करने के लिए विवश हो जाया करते हैं। शिक्षकों तथा अभिभावकों से दंड पाने के भय से वे तरह-तरह के कुत्सित कर्मों को करने के लिए उतारू हो जाते हैं। चाहिए तो यह कि वे बच्चों की

मनोवृत्ति को जानने और समझने की चेष्टा करें और प्रेम तथा सहृदयता के साथ उनके बालसुलभ कर्मों का मूल्यांकन करें ।

कुछ प्रकृतिवादी (behaviourist) मनुष्य को एक यंत्र मात्र मानते हैं और वे इस मानव-यंत्र को अधिक-से-अधिक पूर्ण, सुलभ तथा उपयोगी बनाना चाहते हैं । ये यंत्रवादी मानव प्रतिक्रियाओं को, जो उनके विभिन्न क्रिया-कलापों

में अभिव्यक्त होती रहती हैं, प्रशासित तथा शिक्षित (modify) करना चाहते हैं, ताकि यह यंत्र जटिल कार्य भी सुगमता और सफलता से कर सके ।

हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी प्राकृतिक संवेगों तथा मनोवृत्तियों को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं और उनका नियंत्रण अथवा अवरोध किसी भी रूप में करना नहीं चाहते । प्राकृतिक इच्छाओं की पूर्ति का वे समर्थन करते हैं । स्पष्ट है कि ऐसे प्रकृतिवादी विशेषतः वर्तमान को ही शिक्षा के उद्देश्य में स्थान देते हैं । किसी अनिश्चित भविष्य के लिए वर्तमान सुख को वे छोड़ने के पक्ष में नहीं हैं । यह भी ठीक है कि तत्कालीन सुख के साथ-साथ वे दीर्घकालीन सुख को भी जीवन और शिक्षा के उद्देश्य में सम्मिलित कर लेते हैं । परन्तु, यह तो प्रत्यक्ष ही है कि दीर्घकालीन सुख को अथवा स्थायी सुख को संभव करने के लिए कभी-कभी वर्तमान मनोवेगों का नियंत्रण भी आवश्यक प्रतीत हो सकता है । यही कारण है कि ऐसे प्रकृतिवादी शिक्षा के क्षेत्र में नियंत्रण तथा अनुशासन का स्थान किसी मात्रा में मानते हैं ।

आधुनिक प्रकृतिवादी मैकडूगल इस सुखवादी शैक्षिक उद्देश्य को पूर्णतया स्वीकार नहीं करता, वह कहता है कि हमारी क्रियाएँ प्राकृतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पादित होती रहती हैं और इन प्रक्रियाओं के साथ-साथ सुख-दुःख के अनुभव होते चलते हैं । मैकडूगल के अनुसार अन्तर्वर्गों अथवा मौलिक प्रवृत्तियों को समुचित दिशाओं में ले चलना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए ।

डार्विन और उसके अनुयायी, जो प्रकृतिवादी होते हुए प्राणि-शास्त्री हैं, इस बात को मानते हैं कि विश्व के समस्त प्राणी विकासो-

न्मुख हैं। विकास के इस सनातन क्रम में उन्हें पारस्परिक संघर्षों का सामना करना पड़ता है और इस प्रकार के संघर्षों में वे ही प्राणी टिक पाते हैं जो सफलतापूर्वक औरों का सामना कर सकते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे प्रकृतिवादी की दृष्टि में मनुष्य को इस संघर्ष के लिए अधिक-से-अधिक तैयार करना ही शिक्षा का उद्देश्य हो जाता है। कुछ अन्य प्राणि-शास्त्रियों के अनुसार मनुष्य को वातावरण के अनुकूल बनाना तथा उस वातावरण पर विजय प्राप्त कर सकने योग्य उसे बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा का उद्देश्य है कि वह, मनुष्य के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य को सुन्दर और पुष्ट करे, ताकि अपने वातावरण के विरुद्ध मनुष्य की सारी प्रतिक्रियाएँ सही और सफल हों।

सर टी० परसी नन प्रकृतिवादी शैक्षिक उद्देश्य का कुछ भिन्न ही अर्थ लगाते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्तित्व का अनियंत्रित विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है। उनका कहना है कि प्रत्येक मानव कुछ विशिष्ट संभावनाओं को लेकर संसार में आता है। ये संभावनाएँ प्रत्येक की भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं और इन्हीं भिन्नताओं में व्यक्ति का व्यक्तित्व निवास करता है। इसलिए, शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक व्यक्ति की अधिक-से-अधिक जन्मजात संभावनाओं को संभव कर लेने में सहायता प्रदान करे। ऐसी ही शिक्षा को वे सच्ची प्रकृतिवादी शिक्षा मानते हैं।

हम देख चुके हैं कि प्रकृतिवादी बाल-मनोवृत्ति को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। इसी महत्त्व के कारण मनोवैज्ञानिकों का ध्यान बाल-प्रकृति के अध्ययन की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया। इसीका परिणाम है कि आज बाल-मनोविज्ञान का एक विस्तृत साहित्य प्रस्तुत हो गया है। बाल-प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के सम्यक् अध्ययन के लिए अनेकानेक प्रयोग तथा प्रयत्न किये जा चुके हैं। बालक की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सुन्दर अध्ययन आज तक अनेक किये जा चुके

शिक्षा और बाल-
मनोविज्ञान

हैं और किये जा रहे हैं। प्रत्येक अवस्था में किन-किन अन्तर्वृत्तियों का अभ्युदय किस मात्रा में हुआ करता है और इन अन्तर्वृत्तियों के अवरोध का क्या परिणाम होता है तथा बाल-प्रकृति के स्वाभाविक विकास में कौन-कौन-सी बातें सहायक होती हैं इत्यादि बातों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।*

इन प्रकृतिवादियों का विश्वास है कि बाल-प्रकृति ईश्वर-प्रदत्त अथवा प्रकृति-प्रदत्त होने के कारण स्वभावतः साधु होती है। अतः उसके दमन अथवा नियंत्रण की चेष्टा कुचेष्टा ही कही जायगी। काफी मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप आज ये बातें स्पष्ट कर दी गई हैं और इन अनुसन्धानों के फलस्वरूप शैशवावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था तथा प्रौढ़ावस्था, प्रत्येक के ऊपर काफी मनोवैज्ञानिक साहित्य तैयार हो चुका है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृतिवाद ने शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक आन्दोलन को काफी सहायता प्रदान की है। मानस-विश्लेषण-शास्त्र ने भी बाल-मनोवैज्ञानिक साहित्य के भंडार में अनेकानेक अमूल्य रत्न भेंट किये हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि कट्टर प्रकृतिवादी शिक्षालय, शिक्षक तथा पाठ्य-पुस्तकों को न केवल संदेहपूर्ण दृष्टि से ही देखते, प्रस्मृत एक प्रकार से उनका बहिष्कार भी करते हैं।

पाठ्य-क्रम

बालक के अनुभव और स्वतंत्र क्रिया-कलापों को ही वे प्रधानता प्रदान करते हैं। उनका विश्वास है कि क्रिया-प्रसूत अनुभव ही सच्चा शिक्षक है। अतः उनकी क्रियाओं की स्वतंत्रता का अपहरण न किया जाय—क्या घर में, क्या स्कूल में। प्रकृतिवादी उन्मुक्त प्रकृति को ही एक खुला हुआ महान् ग्रन्थ मानते हैं। इस प्राकृतिक वातावरण के साथ सतत संघर्ष के परिणामस्वरूप जो स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ होती चलती हैं वे बालक के मानसिक विकास के लिए पर्याप्त हैं। किसी और बाहरी ठूसठाँस की आवश्यकता नहीं। इस विकास के लिए न जरूरत है किसी विशेष शिक्षक की, न किसी पुस्तक की।

स्वास्थ्य-शिक्षा के लिए भी किसी विशेष आयोजन की आवश्यकता प्रकृतिवादी नहीं मानते। इस सम्बन्ध में भी उनका विचार है कि अपनी संचित शक्तियों की अभिव्यञ्जना के लिए बालक स्वयं क्रीडारत तथा क्रियाशील हुआ करता है। उसके शरीर को स्वस्थ, पुष्ट और बलिष्ठ बनाने के लिए ये पर्याप्त हैं।

पर प्रकृतिवादी हरबर्ट स्पेन्सर के विचार पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में कुछ भिन्न हैं। कट्टर सुखवादी अथवा आनन्दवादी होने के नाते पाठ्य-विषयों की सूची उसने अपने ही ढंग से प्रस्तुत की है। जीवन धारण तथा जीवन के सुखों को स्पेंसर मानव की सबसे बड़ी और मौलिक आवश्यकता मानता है। सन्तानोत्पत्ति तथा वंश-परम्परा की रक्षा को वह दूसरा स्थान देता है। इसके बाद जीविकोपार्जन और सांस्कृतिक उन्नयन आदि को मानता है। मानवीय आवश्यकताओं के इसी क्रम के अनुसार वह भिन्न-भिन्न विषयों तथा तत्सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन-अध्यापन का आदेश देता है। सुख को प्रधान मापदंड मान कर उसने पाठ्य-विषयों के जो क्रम बताये हैं उनसे अनेक शिक्षा-शास्त्री सहमत नहीं हैं।

प्रकृतिवादी रूसो नास्त्यात्मक शिक्षा (Negative Education) का समर्थक है। कम-से-कम प्रारम्भिक अवस्था में तो वह पुस्तक-पाठ का पक्षपाती नहीं है। बालक की मौलिक प्रवृत्तियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को ही वह यथेष्ट मानता है। सादे भोजन और सादे वस्त्र के अतिरिक्त वह अन्य वस्तुओं को आवश्यक नहीं मानता है। 'ज्ञान के लिए ज्ञान'-वाली नीति का वह समर्थक नहीं, क्योंकि इस नीति के अनुसार पुस्तक-पाठ और बाहरी ठूसठाँस की आवश्यकता पड़ जाती है।

प्रकृतिवादी शिक्षकों की शिक्षण-विधि भी प्रकृतिवादी सिद्धान्तों के अनुकूल है। 'क्रियाओं अथवा अनुभवों द्वारा शिक्षा'-वाली नीति

(learning by doing) के वे प्रबल समर्थक हैं।

शिक्षण-विधि

यथार्थ वस्तुओं और प्रकृति के सम्पर्क में

आकर बालक अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलता से जो अनुभव प्राप्त करते

हैं वे ही शैक्षिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हुआ करते। इसीलिए, 'शब्दों के स्थान में यथार्थ वस्तु'-वाली नीति (things rather than words) को प्रकृतिवादी अधिक पसन्द करते। रूसो ने बताया है कि अपने बालकों को शाब्दिक पाठ मत पढ़ाओ। अनुभव द्वारा ही इन्हें शिक्षित करो। शब्दों का सहारा तभी लो जब तत्सम्बन्धी क्रिया सम्भव न हो। पुस्तक-आधारित ज्ञान न्यूनतम होना चाहिए।* यथार्थवादी दार्शनिक भी शब्दों के स्थान में यथार्थ वस्तु, यथार्थ समाज तथा यथार्थ प्रकृति के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करने के समर्थक हैं। यथार्थवादियों (realists) का मत है कि जहाँ-जहाँ यथार्थ वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें वहाँ शब्दों का सहारा लेना उत्तम नहीं। आखिर शब्द केवल प्रतीक अथवा प्रतिनिधि मात्र हैं और बच्चों की शिक्षा में वस्तुओं को छोड़ उनके प्रतीक शब्दों का आश्रय लेना अच्छा नहीं।

एक बात फिर भी इस स्थल पर कही जा सकती है कि यथार्थवादियों और प्रकृतिवादियों का यह तर्क एक सीमित महत्त्व मात्र रखता है। बहुत ही निम्न श्रेणी की शिक्षा वस्तु-माध्यम मात्र तक भले ही सीमित की जा सकती है, पर शीघ्र ही शिक्षा उस स्तर को पहुँच जाती है जहाँ शब्दों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। प्रान्त, देश, जनता, मित्रता, सत्य तथा प्रजातन्त्र आदि ऐसे शब्द हैं जिनकी आवश्यकता हमें प्रायः आरम्भ से ही पड़ने लग जाती है। स्पष्ट है कि हम शब्दों का दामन छोड़ नहीं सकते। भाववाचक संज्ञाओं के अतिरिक्त अनेक जातिवाचक संज्ञाएँ भी ऐसी हैं जो वर्ग अथवा विद्यालय में नहीं लाई जा सकतीं। शब्दों से शत्रुता कर शिक्षा शिथिल पड़ जायगी और दो कदम जाकर अवरुद्ध हो जायगी।

* "Give your scholar no verbal lessons: he should be taught by experience alone.....Teach by doing whenever you can, and only fall back on words when doing is out of question. Book knowledge should be as little as possible."

—Rousseau.

एक तरफ यह तर्क यदि सत्यमूलक प्रतीत होता है तो रूसो का तर्क भी अवश्य ठीक है कि जहाँ यथार्थ वस्तु, समाज तथा प्रकृति संभव हो, वहाँ भी बच्चों को उनसे दूर रख कर शब्दों को घसीट लाना उत्तम नहीं। बात यह है कि किसी भी चीज को हृद से गुजरने देना ठीक नहीं।

भाषा के शिक्षण में प्रकृतिवादी प्रत्यक्ष-शिक्षण-प्रणाली (Direct Method of Teaching) के पक्षपाती हैं। वस्तुएँ और क्रियाएँ जो वर्गों के भीतर तथा बाहर संभव की जा सकती हैं, वहाँ वे शब्दों का सम्बन्ध उन यथार्थ वस्तुओं और क्रियाओं से जोड़ते हैं। आखिर एक नवागत शिशु अपनी मातृभाषा का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करता है? उसके साथ बातचीत कर शिशु के माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी प्रत्येक पद पर प्रत्येक वस्तु और क्रिया के साथ तत्सम्बन्धी एक-एक शब्द को जोड़ते चलते हैं और दो-तीन वर्षों के भीतर वह शिशु एक भाषा का अधिकारी बन फरटि के साथ उसे बोलने लग जाता है।

गणित के शिक्षण में भी प्रकृतिवादी इस प्रणाली के समर्थक हैं कि वास्तविक जोड़, घटाव तथा माप आदि जो बालक के वास्तविक जीवन के अंग हो चुके हैं उन्हीं की सहायता से गणित की शिक्षा दी जाय। ये बातें प्रोजेक्ट-प्रणाली से पढ़ाने पर अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। जोड़ या घटाव, नाप या जोख वच्चे केवल अपने मानसिक व्यायाम के लिए नहीं करते प्रत्युत किसी भी प्रोजेक्ट, जिसका चुनाव बालकों ने स्वयं किया है, उसे पूरा करने के क्रम में उन गणित-सम्बन्धी क्रियाओं की आवश्यकता उन्हें प्रतीत होती है और उन्हें पूरा कर वे गणित का ज्ञान लाभ कर लेते हैं। बात यह है कि जीवन की यथार्थता के यथा-संभव शिक्षण-विधि को निकट ले जाना विषय-ज्ञान को सुन्दर, स्पष्ट और सुदृढ़ बनाता है। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

विज्ञान के ज्ञान के लिए भी प्रकृतिवादी शिक्षण-विधि यह है कि यथासंभव प्रकृति के सम्पर्क में लाकर विज्ञान की शिक्षा बालकों को दी जाय। जहाँ यह संभव न हो सके, वहाँ प्रयोगशाला में जाकर

वास्तविक प्रयोगों और निरीक्षणों द्वारा विज्ञान का ज्ञान कराया जाय । भूगोल-पाठ में भी इसी निरीक्षण-विधि (Observation Method) के वे अधिकांश में पक्षपाती हैं ।

आज 'खेल द्वारा शिक्षा' (Playway Methods of Teaching) का जो इतना अधिक ढोल पीटा जा रहा है उसमें भी प्रकृतिवादी सिद्धान्तों की गंध आती है । अन्वेषण-शिक्षण-प्रणाली (Heuristic Method of Teaching), डॉल्टन-प्रणाली तथा मॉण्टेसरी-प्रणाली आदि जो भिन्न-भिन्न शिक्षण-विधियाँ चल पड़ी हैं वे इसी 'खेल द्वारा शिक्षा' आन्दोलन के विभिन्न स्वरूप हैं । इन तमाम शिक्षण-प्रणालियों के मूल में वे ही शिक्षण-सिद्धान्त हैं कि शिक्षण-कार्य में यथार्थ वस्तुओं और क्रियाओं का अधिक-से-अधिक मात्रा में सहारा लो तथा शिक्षा और शिक्षण को जहाँ तक यथार्थ जीवन के निकट ले जा सको, ले जाओ । शिक्षण-कार्य में भी बच्चों को अधिक-से-अधिक मात्रा में कार्य-स्वतंत्रता दो । प्रकृतिवादी मौलिक सिद्धान्तों की आधार-शिला पर ही अनेक शिक्षण-विधियों की कल्पना की गई है । प्रकृतिवादी दार्शनिक शिक्षा और शिक्षण (education and teaching) दोनों को बाल-केन्द्रित करना चाहते हैं ।

कतिपय अप्रत्यक्ष शिक्षण-प्रणालियों में भी प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा रहा है । स्काउटिंग आन्दोलन, शैक्षिक यात्रा (school journey), स्वयंसेवक-आन्दोलन, प्रकृति-निरीक्षण, भारतीय विद्यालयों के अन्तर्गत आधुनिक श्रमदान-आन्दोलन तथा उद्योग-केन्द्रित शिक्षा-आन्दोलन आदि में प्रकृतिवादी सिद्धान्तों की झलक मालूम पड़ती है ।

प्रकृतिवादी सह शिक्षा (Co-education) के पक्षपाती हैं । बालक और बालिकाओं को अलग करके शिक्षा की व्यवस्था करना वे अस्वाभाविक मानते हैं । उनका विश्वास है कि स्त्री-पुरुष का सहवास प्रकृति के नियमानुकूल है । इस स्वाभाविकता को जान-बूझ कर विद्यालयों में नष्ट कर देना अप्राकृतिक, अतएव हानिकर है ।

प्रकृतिवादियों की धारणा है कि इस प्रकार के प्रयत्नों से बालक तथा बालिकाओं में अनावश्यक ही अभद्र उत्सुकताएँ, कल्पनाएँ, इच्छाएँ तथा क्रियाएँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। जहाँ छिपने-छुपाने के प्रयास निरन्तर हुआ करते वहाँ पर उनकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप छुप-छुप कर देखने, सुनने और कार्य करने की प्रवृत्ति स्वभावतः सजग और बलवती हो जाया करती है। मानना पड़ेगा कि इन तर्कों के मूल में सत्य का बहुत बड़ा अंश है। निरन्तर का सहवास असभ्य, अमंगल और अस्वस्थ उत्सुकताओं और कामनाओं को अधिकांश में उत्पन्न ही नहीं होने देता। इसी सिद्धान्त में विश्वास कर प्रकृतिवादी सह-शिक्षा-प्रणाली का समर्थन करते हैं।

प्रकृतिवादी शैक्षिक पद्धति में शिक्षक का स्थान सन्देहपूर्ण ही कहा जा सकता है। इस पर एक झलक ऊपर की पंक्तियों में दी भी जा

शिक्षक का स्थान

चुकी है। बाल-केन्द्रित शैक्षिक पद्धति में शिक्षक स्वभावतः पृष्ठभूमि में चला जाता है। बालक

के स्वतन्त्र क्रिया-कलाप में शिक्षक द्वारा हस्तक्षेप का कोई स्थान नहीं है। रॉस ने प्रकृतिवादी शिक्षा-पद्धति में शिक्षक की स्थिति के सम्बन्ध में बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। “यदि शिक्षक का कोई स्थान है तो वह पर्दे के पीछे है। बालक के विकास का निरीक्षण मात्र उसे करना है। बालक को न उसे कोई ज्ञान प्रदान करना है, न अपने विचार उस पर लादने हैं, न अपना आदर्श या इच्छा-शक्ति का प्रयोग उसे करना है और न उसके चरित्र का निर्माता ही उसे बनना है। बालक स्वयमेव इन्हें अपने लिए कर लेगा। उसे अपने शिक्षक की अपेक्षा अधिक इस बात का पता है कि उसे क्या, कब और किस प्रकार सीखना है, उसे क्या करना चाहिए और किस प्रकार करना चाहिए।” *

“His place, if any, is behind the scenes; he is an observer of the child's development rather than a giver of information, ideas, ideals, and will-power, or a moulder of character. These

शिक्षक को चाहिए कि किसी प्रकार के कृत्रिम वातावरण को बालक के समक्ष उपस्थित न करे। बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक विकास का जो स्वाभाविक क्रम है उसमें प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न किसी भी रूप में हस्तक्षेप न करे। रॉस कहता है कि—“व्यावहारिक दृष्टि से फिर भी शिक्षक की हस्ती आवश्यक मानी जाती है, न केवल एक निरीक्षक की ही हैसियत से, बल्कि एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जो रंगशाला का आयोजन करता है, सामग्रियों का प्रबन्ध करता है, सुअवसर प्रदान करता है, आदर्श वातावरण का निर्माण करता है तथा ऐसी परिस्थिति का सर्जन करता है जिसमें (बालक का) स्वाभाविक विकास होता चलता है।” प्रकृतिवादी शैक्षिक सिद्धान्त के अनुसार शिक्षक को बालक के चरित्र-निर्माण में भी कोई प्रयत्न जान-बूझ कर नहीं करना चाहिए। समाज-स्वीकृत आदर्श भी बच्चों के गले में उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं मढ़ना चाहिए। शिशु स्वयं स्वभावतः शुद्ध, सरल और सच्चरित्र हुआ करता। यदि कलुषित वातावरण से उसकी सफल रक्षा की जा सके तो फिर उसके चरित्र-निर्माण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। चरित्र तो उस सरलात्मा शिशु के पास है ही, उसे चरित्र-भ्रष्ट होने से बचाना है। शिक्षक का कर्तव्य इसी बात में है कि वह इसके लिए अनुकूल वातावरण को बच्चों के समक्ष रखे। किसी प्रकार से रोब गाँठने अथवा दंड देने का अधिकार शिक्षक को नहीं।

प्रकृतिवादी शैक्षिक पद्धति में शिक्षक का जो स्थान है उसका एक छोटा विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अनुशासन का क्या स्वरूप

होगा उस पर उसी विवरण से एक झलक पड़
 अनुशासन गई होगी। जब शिक्षक को उपदेश तथा

आदर्श तक बच्चों के समक्ष रखने का अधिकार नहीं है तो अनुशासन

child will forge for himself; he knows better than any educator what he should learn, when and how he should learn it, what he should do and how he should do it.”

का भला क्या हो सकता है। शिक्षक ही क्यों, चाहे जिस किसी के भी द्वारा हो, प्रकृतिवादी अनुशासन को अपनी शैक्षिक पद्धति में कोई स्थान नहीं देते। उन्मुक्त प्रकृति के प्रशस्त प्रांगण में बालक के स्वतंत्र आचरण का जहाँ विधान है वहाँ अनुशासन का भला क्या स्थान होगा।

रूसो ने कहा है कि अलग से अनुशासन अथवा दंड-विधान की आवश्यकता नहीं है। क्या प्राकृतिक दंड-विधान पर्याप्त नहीं? उसने कहा है कि 'बच्चों को दंड नहीं देना चाहिए। अपनी भूल के स्वाभाविक परिणामस्वरूप ही प्राकृतिक दंड को सदैव आने देना चाहिए।'*

कट्टर प्रकृतिवादी स्पेंसर भी दंड और अनुशासन के इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। उसकी दृष्टि में नैतिकता, संकल्प तथा अन्तःकरण आदि की बातें बे-सिर-पैर की हैं। आचरण का एक मात्र मापदंड वह सुख-दुःख को मानता है। सुखान्त आचरण अच्छे हैं और दुःखान्त बुरे। इन्हीं सुख-प्राप्ति और दुःख-परित्याग की भावनाओं से प्रेरित होकर मानव आचरण इस विश्व के रंगमंच पर होते आये हैं। नैतिक प्रेरणा को स्पेंसर स्थान नहीं देता।

रूसो की तरह स्पेंसर भी किसी कृत्रिम दंड-विधान को उचित नहीं मानता। वह कहता है कि बच्चे यदि भूल करते हैं तो उन्हें करने दो। प्रकृति स्वयं दंड की व्यवस्था कर देगी। प्राकृतिक दंड-विधान अचूक हुआ करता। बालक अपनी भूल का दुःखद परिणाम भुगत कर स्वयं भविष्य में दूसरी भूल नहीं करेगा। वह आप-से-आप समझ जायगा कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं।

आदर्शवादी विद्वान् इस प्राकृतिक दंड-विधान को अनुचित मानते हैं। उनका विश्वास है कि इस प्रकार के दंड-विधान में नैतिकता का निवास नहीं है। सुख-दुःख के निम्न स्तर पर खड़े होकर ही हम

*"Children should never receive punishment as such—it should always come as the natural consequence of their fault."

आचरण करते दिखाई पड़ते हैं। धर्म और नीति-शास्त्र ताक पर रख दिये जाते हैं। इस प्रकृतिवादी सिद्धान्त के अनुसार नीतिविरुद्ध अथवा समाज के लिए हानिप्रद आचरण कर यदि हम आनन्द प्राप्त कर रहे हैं तो हमें उस आचरण को करते रहने का पूरा अधिकार है। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त भ्रममूलक है। ऐसे आचरणों से समाज विशृङ्खल हो जायगा और उसमें अनाचार, अत्याचार तथा अन्याय का तांडव-नृत्य होने लग जायगा। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'-वाली नीति चारों ओर व्यवहृत होने लग जायगी।

और भी, इस प्रकृतिवादी दंड-विधान में अन्य दोष भी हैं। प्रकृति अंधी है और उसका दंड-विधान अंधा है। भूल और उसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक दंड में कोई सामञ्जस्य या समानुपात नहीं है। एक जरा-सी-भूल के लिए प्रकृति उस बालक को मृत्यु-दंड दे सकती है। निरीक्षण, अनुशासन तथा नियंत्रण करना यदि शिक्षक और अभिभावक छोड़ दें तो अबोध शिशु दौड़ती हुई रेलगाड़ी की खिड़की के बाहर गिर कर प्राण दे-दे सकता है, अथवा कोठे पर फिसल कर अंग-भंग कर ले सकता है अथवा आग के पास खेल कर जरा-सी भूल के लिए अपना सारा शरीर भूलसा कर मृत्यु प्राप्त कर सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्राकृतिक दंड-विधान में अपराध और दंड के बीच उचित अनुपात प्रायः नहीं हुआ करता।

इतना ही नहीं, इस प्राकृतिक दंड-विधान में इस बात की कौन-सी गारंटी रहती है कि अपराध करनेवाला बालक ही दंड का भागी होगा। कोठे पर से खेल ही खेल में यदि एक बालक दूसरे को धकेल देता है तो उसके परिणामस्वरूप बिना अपराध किये एक बालक की मृत्यु तक हो जा सकती है। यही है प्राकृतिक दंड-विधान का नग्न स्वरूप। ऐसे दंड-विधान को अंधा नहीं कहा जायगा तो क्या कहा जायगा। स्पष्ट है कि पूरी समझ अथवा बुद्धि के उदय होने के पूर्व किसी-न-किसी प्रकार का निरीक्षण, अनुशासन और नियंत्रण परम आवश्यक है। अंधी प्रकृति के अंधे दंड-विधान पर हम अपने अबोध बालक को छोड़

नहीं सकते। प्रकृति के दरबार में न उचितानुचित का विचार है और न दोषी-निर्दोष का ही। 'खेत खाय गदहा और मार खाय जोलहा' की नीति उसके दरबार में खूब चलती है। हक्सले ने कहा है—'प्राकृतिक अनुशासन में चेतावनी और चपत साथ नहीं आती, अथवा चपत पहले और चेतावनी पीछे, बल्कि बिना किसी चेतावनी के चपत पड़ जाया करती है।'*

यह बात अवश्य कही जा सकती है कि बच्चों की प्रत्येक छोटी-छोटी भूल के लिए डंडे लगाना सर्वथा अनुचित है। छोटी-छोटी भूलों में, यदि उनके परिणाम भयंकर न हों, प्राकृतिक दंड स्वीकार कर लिये जाने चाहिए। दंड देने की परिपाटी जब औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर देती है तो अपराधी बालकों के मन में एक अमंगल प्रतिक्रिया को जन्म दे देती है और अभिभावकों अथवा शिक्षकों द्वारा किये गये दंड-विधान का सारा अभिप्राय, सारा उद्देश्य नष्ट हो जाता है और उपकार के स्थान में अपकार हो जाता है। फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिक ने अपने मानस-विश्लेषण-शास्त्र में निरन्तर के नियंत्रण, दंड और अनुशासन के कुपरिणामों का विस्तृत वर्णन किया है। स्वतंत्रता का अपहरण—क्या बूढ़ों और वयस्कों का, क्या बच्चों का—अनुचित और हानिकर ही सिद्ध होता है। बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण की प्रक्रियाओं में अभिभावकों और शिक्षकों को इस सिद्धान्त का उचित पालन अवश्य करना चाहिए। उन्हें यह बराबर स्मरण रखना चाहिए कि बच्चे बच्चे ही हैं और वयस्कों जैसा आचरण अभी कदापि नहीं कर सकते और न उसकी आशा ही की जानी चाहिए।

यह स्पष्ट है कि अति नियंत्रण तथा नियंत्रणहीनता दोनों बुरी वस्तुएँ हैं। यह भी ठीक है कि जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाय और बच्चों में

* "Nature's discipline is not even a word and a blow, and the blow first; but the blow without the word."

समझ की मात्रा बढ़ती जाय, नियंत्रण और अनुशासन की मात्रा कम होती जानी चाहिए। माध्यमिक विद्यालयों में इस चीज की और भी जरूरत है। कल्पना और निर्णय-शक्ति के उत्तरोत्तर अभ्युदय को देख कर शिक्षकों और अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे प्रत्येक बात में अपनी टाँग अड़ाना, अपना निर्णय अथवा निर्देश उन पर लादना तथा दंड की व्यवस्था करना छोड़ दें। जिन अमंगल प्रतिक्रियाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनका भय माध्यमिक विद्यालयों में और भी अधिक हुआ करता। शिक्षकों को चाहिए कि वे काफी समझदारी और व्यावहारिक बुद्धि से इस अनुशासन के मामले में काम लें।

आधुनिक प्रकृतिवादियों ने प्रकृतिवाद के मौलिक स्वरूप में बहुत-कुछ परिवर्तन कर दिया है। आधुनिक आदर्शवाद (idealism) और

एक आधुनिक

प्रकृतिवादी विद्यालय

प्रयोजनवाद (pragmatism) तथा यथार्थवाद

(realism) आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का

प्रभाव प्रकृतिवाद पर पड़ा है। फिर भी शुद्ध

प्रकृतिवादी आज भी कुछ संख्या में पाये जाते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों में नील का नाम लिया जा सकता है। एक प्रकार से इसके प्रकृतिवादी विचार क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं। अपने समरहिल के स्कूल में उमने पूरी प्रकृतिवादी व्यवस्था की—और काफी सफलता के साथ।

रूसो की तरह नील बालकों को शुद्ध और सरलात्मा मानता है। उनके लिए किसी प्रकार के शासन, अनुशासन, चेतावनी अथवा नीति या धर्म का उपदेश वह व्यर्थ ही नहीं, हानिकर भी मानता है। यही कारण है कि इसने अपने स्कूल में एक स्वतंत्र बाल-समाज की व्यवस्था की है। इस विद्यालय में दंड अथवा भय को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। विद्यालय के भीतर पूर्ण स्वतंत्रता का साम्राज्य है। वच्चे अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल सारे कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। शिक्षकों की ओर से किसी प्रकार की न मनमानी की जाती है, न कोई आदेश अथवा आदर्श उनके गले मढ़े जाते हैं। अन्य स्कूलों की तरह शिक्षकों को पुलिस ड्यूटी नहीं करनी पड़ती। किसी नियमावली

में बच्चे नहीं बँधे होते। यदि विद्यालय के अन्दर कोई नियमावली है तो वह स्वयं बच्चों की बनाई हुई है।

बच्चों से भूलें होती हैं, पर वयस्क ही इनसे मुक्त कब हैं, उनकी संख्या न्यूनाधिक चाहे भले ही हो। इस विद्यालय में यह बात मान ली जाती है कि बच्चे आखिर बच्चे ही हैं। उनसे भी भूलें हो सकती हैं, पर उनमें से अनेक भूलें वयस्कों के अपने मापदंड के कारण भूलें मालूम पड़ती हैं। बाल-जगत् के मापदंड के मुताबिक वे गलतियाँ नहीं कही जा सकतीं। उनकी कल्पना-शक्ति अभी अविकसित अथवा अर्धविकसित ही है। अतः वर्तमान, प्रत्यक्ष और स्थूल वर्तमान, भर से उनका नाता है। भविष्य की स्थिति वयस्कों के लिए है। बच्चे भविष्य पर भरोसा नहीं करते। सच पूछो तो वे उसकी सम्यक् कल्पना भी नहीं कर सकते। भविष्य पर भरोसा ही क्या? इसकी कौन-सी गारण्टी है कि आज के प्रत्येक बच्चे के लिए कल्पित भविष्य एक दिन आ ही जायगा। उसके आने के पहले कहीं कूच का डंका बज गया तो? भविष्य तो गया ही निश्चित वर्तमान भी गया।

इसी सिद्धान्त के अनुसार नील के स्कूल में बच्चों के क्रिया-कलाप पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या नियंत्रण नहीं लगाया जाता। बच्चों को अपने वर्तमान का जी भर उपयोग करने दिया जाता है। स्कूल के अन्दर चारों तरफ बच्चों के प्रसन्न मुखमंडल दृष्टिगोचर होते हैं। अगर उन्होंने छोटी-मोटी भूलें भी कीं, तो क्या चिन्ता, वयस्क कब बाज आते हैं। फिर कठोर अनुशासन की व्यवस्था क्यों?

समरहिल के इस स्कूल में नील किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालता। यहाँ सहशिक्षा दी जाती है। लड़के-लड़कियाँ स्वतंत्रतापूर्वक एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इस सहवास में स्वाभाविक रूप से वासना भी आ गई तो परवाह नहीं। वे यदि वस्त्र-विहीन भी रहना चाहें तो कोई रोक नहीं। नील का विश्वास है कि इस प्रकार के प्राकृतिक सहवास में जीवन के प्रति अभद्र भावनाएँ जल्द उत्पन्न ही नहीं होतीं जितनी कि रोक-थामवाले और नियंत्रित वातावरण में

उत्पन्न हुआ करती हैं। ये बातें कुछ असंभव-सी प्रतीत होती हैं, पर नील की चुनौती है कि कोई आकर देख ले कि जिसे वे असंभव समझते प्राये हैं वह यहाँ संभव हो गया है या नहीं। नील का विश्वास है कि जितने दुराचरण नियंत्रण और अनुशासनपूर्ण वातावरण में हुआ करते उतने उन्मुक्त और स्वतंत्र वातावरण में नहीं। इसीलिए, शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह बच्चों की स्वतंत्रता को किसी भी मात्रा में कुण्ठित न होने दे। सदा सहृदयता और प्रेम से उनके साथ व्यवहार करे। बच्चों के साथ बराबरी का नाता स्थापित करे।

ऊपर की बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि नील के स्कूल में अराजकता का साम्राज्य है और सब बच्चे केवल मन-चाही करते हैं। जरूर करते हैं, लेकिन उसी हद तक जब तक कि एक बच्चा दूसरे की स्वतंत्रता अपहृत नहीं करता। नील के स्कूल में भी शासन की व्यवस्था है, व्यवस्थित और पर्याप्त शासन की, पर वह शासन स्वशासन है; उनका अपना है, न कि शिक्षकों का। हम भूल कर बैठते हैं यह सोच कर कि बच्चे व्यवस्था या शासन पसन्द नहीं करते। खूब करते हैं, बल्कि हम वयस्कों से भी अधिक कठोर शासन। फिर भी उनके उन में अमंगल प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि वह शासन उनका अपना है।

इस समरहिल स्कूल में हर तीसरे-चौथे महीने बच्चे बहुमत द्वारा पाँच विद्यार्थियों की एक समिति चुनते हैं। इसे उनका मंत्रिमंडल कहा जा सकता है। यह समिति बड़े उत्तरदायित्व के साथ कार्य-संचालन करती है। यही समिति भगड़ों का निर्णय करती है और दंड का विधान भी करती है। इस स्कूल के बच्चे इसे जानते हैं कि उनके शिक्षकों ने सारा भार उन्हीं लोगों के ऊपर छोड़ दिया है। इसीलिए, वे इस बात पर पूरा ध्यान रखते हैं कि उनका स्कूल समाज की दृष्टि में बदनाम न हो जाय। इस तरह उन बच्चों को उत्तरदायित्व का पाठ बड़े ही सुन्दर, सफल और व्यावहारिक रूप में मिलता है। शनिवार की शाम को पूरे स्कूल की सभा बैठती है। इस सभा को अधिकार रहता है कि समिति के शासन-सम्बन्धी कार्य को स्वीकार

करे, अस्वीकार करे अथवा कुछ परिवर्तित कर दे। नील का विश्वास है कि इस प्रकार के कार्य से प्रजातंत्र की सच्ची और परम व्यावहारिक शिक्षा मिलती है जो दस-बीस बार के पुस्तक-पाठ या मौखिक शिक्षण से संभव नहीं। नाचना हम नाच कर ही सीख सकते हैं, उपदेश या अध्ययन से कदापि नहीं।

शिक्षा को बाल-केन्द्रित कर प्रकृतिवाद ने विश्व के बालकों का अपूर्व उपकार किया है। शिक्षा के क्षेत्र में बालक चिरकाल से तिरस्कृत था। समझा जाता था कि वह मानो एक मिट्टी का पुतला है; ठोक-पीट कर जैसा भी रूप वयस्कों को पसन्द हुआ उसे दे दिया।

प्रकृतिवाद
की देन

शिक्षक नहीं जानते थे कि बालक का भी कोई व्यक्तित्व हुआ करता। उसकी अपनी जन्मजात शक्तियाँ हुआ करतीं और वह उन्हीं प्राकृतिक देन तथा संभावनाओं के अनुकूल विकसित हो सकता है। औरों के साँचे में वह ढाला नहीं जा सकता। वह अविकसित अथवा अर्धविकसित भले ही रह जा सकता है पर औरों का रूप उस पर थोपा नहीं जा सकता। अभिभावक और शिक्षक इस बात को नहीं समझते थे कि बच्चों की दुनिया प्रौढ़ों की दुनिया से भिन्न हुआ करती। बाल-जगत के नियमोपनियम कुछ और ही हुआ करते; उसके आदर्श बिल्कुल भिन्न हुआ करते; उनकी माँग और आवश्यकताएँ कुछ और ही हुआ करतीं; उनके अरमान, उनकी इच्छाएँ तथा उनके स्वप्न हम प्रौढ़ों की दुनिया से बिल्कुल भिन्न हुआ करते। इस प्रकार बाल-शिक्षा के क्षेत्र में ही बालक को कोई स्थान नहीं था। वह पृष्ठभूमि में ठेल दिया गया था। प्रौढ़ों के आदर्श, माँग और इच्छाएँ उसके ऊपर बलपूर्वक लाद दी गई थीं। यह प्रकृतिवाद की अमूल्य देन है कि बालक को सत्-शिक्षा मिली और शिक्षा को बालक। पहली बार शिक्षा बाल-केन्द्रित बनी।

यह प्रकृतिवाद की देन है कि शिक्षा के क्षेत्र में बाल-प्रकृति के अध्ययन का आन्दोलन आरम्भ हुआ। खोये हुए धूल-धूसरित सरलात्मा

शिशु को प्राप्त करने का प्रयास होने लगा। बालक की प्रत्येक प्रतिक्रिया, उसका प्रत्येक कार्य, उसकी प्रत्येक अभिलाषा तथा उसकी प्रत्येक आवश्यकता बड़े ध्यान से परखी जाने लगी। बालक की आयु के प्रत्येक स्तर पर उसमें कौन-कौन-सी मनोवृत्तियाँ और शक्तियाँ आविर्भूत होकर विकास पाने लगती हैं, इन तमाम बातों का वैज्ञानिक अध्ययन होने लग गया और परिणामस्वरूप आज बाल-प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाला एक बृहत् मनोवैज्ञानिक साहित्य तैयार हो गया है और बाल-मनोवृत्ति के सम्बन्ध में अनेक बातें निश्चित रूप में बताई जा सकती हैं।

यह भी प्रकृतिवाद की ही देन है कि बाल-शिक्षण-प्रणाली में आज एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है। अब शिक्षकों ने समझा है कि खेल का शैक्षिक महत्त्व क्या है और किस प्रकार इसका उपयोग शिक्षण-क्षेत्र में किया जाना चाहिए। बालक की स्वाभाविक क्रीड़ाशीलता और तल्लीनता को शिक्षाविशारदों ने बड़े ध्यान से परखा और इस निष्कर्ष पर वे आये कि यदि वही तल्लीनता शिक्षा के क्षेत्र में लाई जा सके तो शिक्षण-कार्य में एक अभूतपूर्व क्रान्ति आ जायगी। शिक्षा-शास्त्री उन शिक्षण-प्रणालियों की खोज में पड़े, जिनमें स्वाभाविक खेलवाली मनोवृत्ति और तल्लीनता उपलब्ध और प्रयुक्त हो सके। उन्हीं अथक अनुसन्धानों और प्रयोगों का आज यह परिणाम है कि हमारे सामने खेल पर आधारित अनेक शिक्षण-विधियाँ मौजूद हैं। प्रकृतिवादी शिक्षण-विधि की विवेचना करते समय खेल पर आधारित कुछ शिक्षण-विधियों का उल्लेख हम कर आये हैं।

शिक्षण-प्रणालियों के क्षेत्र में प्रकृतिवाद की अमूल्य देन को हम देख चुके हैं। शैक्षिक उद्देश्य के क्षेत्र में प्रकृतिवाद लचर जाता है।

प्रकृतिवाद
की त्रुटियाँ

धर्म, संस्कृति तथा आदर्शों से अलग होकर प्रकृतिवाद निर्धन बन जाता है। शिशु आरम्भ में पशुवत् हुआ करता और प्रकृतिवाद उसे बिना किसी परिवर्तन के विकसित होने देना चाहता है। मानव-क्रिया-

कलाओं के परिणाम स्वरूप युग-युग की संचित निधियाँ जो आज हमारे बीच ज्ञान-विज्ञान, कला, धर्म, सभ्यता, संस्कृति, नीति तथा सिद्धान्त आदि के रूप में वर्तमान हैं, उनमें बालक का प्रवेश कराने के लिए प्रकृतिवाद कोई सोद्देश्य अथवा निश्चित प्रयत्न नहीं करता और न करने देना चाहता है। ऐसे प्रयत्न के अभाव में आज के बालकों का उन अमूल्य निधियों में प्रवेश एक अनिश्चित, आकस्मिक घटना की तरह हो जाता है। कोई भी व्यक्ति पीढ़ियों से प्राप्त इन आदर्शों और सिद्धान्तों को इतनी आसानी से छोड़ना नहीं चाहेगा।

प्रकृतिवाद बालक में व्यक्तित्व के एक ही पक्ष को मान्यता देता है और वह है उसका पशु-पक्ष या निम्न-पक्ष। प्रकृतिवादी यह भूल जाता है कि मानव-प्रकृति में इस पशु-पक्ष के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी ऐसा है जिसे अध्यात्म-पक्ष कहा जा सकता है और वह भी पशु-पक्ष की तरह उतना ही स्वाभाविक है और उस अध्यात्म-पक्ष का उचित विकास भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य को निरा पशु मान लेना अवश्य गलत कहा जायगा। वास्तव में व्यक्ति के पशु-पक्ष और मानव-पक्ष दोनों का संतुलित विकास आवश्यक कहा जायगा।

वर्तमान को ही प्रकृतिवाद सारा महत्त्व प्रदान करता है। यदि भविष्य की वलि-वेदी पर वर्तमान की हत्या अनुचित कही जायगी तो वर्तमान की वेदी पर भविष्य का गला घोटना भी गलत ही माना जायगा। सच पूछो तो दोनों की सन्तुलित रक्षा उचित मानी जायगी। मनोवृत्तियों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र को शिक्षा का उद्देश्य मान लेना अनुचित नहीं, तो अपूर्ण अवश्य कहा जायगा।

प्रकृतिवादी दंड-विधान भी दोषपूर्ण दिखाई पड़ता है। कहा जा चुका है कि प्रकृति के न्यायालय में अपराधी और निरपराध का कोई विचार नहीं। भूल होने पर अपराधी अथवा निरपराध, दोनों में से किसी को दंड मिल सकता है। इसे अंधेरखाता नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? यही नहीं, अपराध और दंड की मात्रा में एक

सामञ्जस्य, एक समानुपात होना चाहिए। ऐसा न करना भी अन्याय ही गिना जायगा। जरा-सी भूल के लिए, वह भी बिल्कुल अनिच्छापूर्ण, प्रकृति हमें प्राण-दंड तक दे सकती है। स्पष्ट है कि प्राकृतिक अनुशासन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मुग-मुग की संचित सांस्कृतिक निधियों का तिरस्कार कर प्रकृतिवादी पाठ्य-क्रम वास्तव में बिल्कुल निर्जीव बन जाता है। प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण पाठ्य सामग्री के रूप में बड़ी आवश्यक अवश्य मानी जायगी, तथापि इसे अपूर्ण ही माना जायगा। पीढ़ियों के अर्जित साहित्य, कला और विज्ञान को तिरस्कृत कर हम उनसे पराङ्मुख नहीं हो सकते। शैक्षिक उद्देश्य और पाठ्य-क्रम की इस प्रकृतिवादी कमी की पूर्ति के लिए हमें आदर्शवाद की शरण लेनी पड़ेगी।

अध्याय ११

शिक्षा में आदर्शवाद

(Ideals in Education)

“Beauty is truth, truth beauty”—that is all ye know on earth, and all ye need to know.

—*Keats*

“Goodness, truth, and beauty are seen to be absolutes, each existing in its own right and entirely desirable in itself.

—*J. S. Ross*

“The naturalist may be content with briars but the idealist wants fine roses.

—*Ross*

“Freedom is the cry of the naturalists, while discipline is that of the idealists.”

“Idealism shifts the emphasis from the natural or scientific facts of life to the spiritual aspects of human experience.”

प्रकृतिवाद की तरह आदर्शवाद भी शिक्षा के दार्शनिक आधारों में एक है। शैक्षिक समस्याओं का हल आदर्शवाद किसी प्रत्यक्ष और निश्चित रूप में नहीं करता।

आदर्शवाद

उन समस्याओं की दार्शनिक विवेचना कर वह अवश्य एक प्रकाश डालता है। फिर भी आदर्शवाद जितना प्रकाश

शैक्षिक उद्देश्य पर डालता है उतना उसके साधन और प्रणालियों पर नहीं ।

आदर्शवाद के प्रवर्तकों में प्लेटो, कॉमेनियस, बर्कले, हिगेल, काण्ट तथा फ्रुबेल आदि के नाम लिये जा सकते हैं । आदर्शवाद भावों की दुनिया को जितना महत्त्व प्रदान करता है उतना भौतिक जगत को नहीं । वास्तविकता का निवास भौतिकता में नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिकता में है । भौतिकवाद मनुष्य को आराम भले ही दे सकता है पर परमानन्द की प्राप्ति कदापि नहीं करा सकता । वास्तविक सुख सत्-चित्त-आनन्द में है, न कि सांसारिक वस्तुओं अथवा साधनों के एकत्रीकरण और उपभोग में है । अतः मनुष्य जीवन का यथार्थ ध्येय 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की प्राप्ति में होना चाहिए, न कि चाँदी के चन्द टुकड़े को वटोरने और ऐश्वर्य की सामग्रियों को इकट्ठा करने में ।

आध्यात्मिकता ही मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का महत्त्वपूर्ण अंग है और इसी की प्राप्ति और संवर्द्धन में उसका सच्चा कल्याण है । भौतिकता की राह में कोई मंजिल नहीं । सारे जीवन की दौड़ के बाद भी मनुष्य संतोष और परमानन्द को पा नहीं सकता । अतः वास्तविक सुख की खोज मनुष्य को बाह्य जगत् में न करके अपने ही भीतर करनी चाहिए । उसके निजी अनुभव और भावनाएँ अधिक अनुशीलन की वस्तुएँ हैं । बाह्य जगत् का ज्ञान या विज्ञान उसे अधिक दूर नहीं ले जा सकता और न वास्तविकता के ही दर्शन करा सकता है । यही कारण है कि आदर्शवादी शिक्षा-शास्त्री मानवी विषयों के अध्ययन को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं । उनका विश्वास है कि मानव-अनुभव-प्रसूत साहित्य, कला, नीतिशास्त्र धर्म तथा संस्कृति आदि भौतिक विज्ञान की अपेक्षा अधिक पठतव्य हैं । मानव की आध्यात्मिक प्रकृति इन्हीं सांस्कृतिक वस्तुओं में अभिव्यक्त होती आई है । मानव-अनुभव तीन प्रकार के होते हैं—मानसिक, भावात्मक और क्रियात्मक । ये तीनों तत्त्व प्रत्येक अनुभव में न्यूनाधिक मात्राओं में मिले-जुले होते हैं और इन्हीं तीनों की अभिव्यक्ति 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में हुई है

और वास्तविकता इन्हीं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में निवास करती है। अतः इन्हीं की प्राप्ति को मानव जीवन का ध्येय स्वीकार करना चाहिए और शिक्षा को इनकी प्राप्ति का साधन बनाना चाहिए, क्योंकि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही परमात्मा अथवा वास्तविकता के व्यक्त रूप हैं। इन परम तत्त्वों की प्राप्ति साहित्य, कला, विज्ञान तथा धर्म आदि मानवीय विषयों के अनुशीलन और मनन से हो सकती है। मनुष्य की यही आध्यात्मिक प्रकृति उसे पशुओं से पृथक् करती है। पशु ठोस पदार्थों अथवा भौतिक संसार से ऊपर उठ नहीं सकते, पर मनुष्य पशुओं की तरह निस्सहाय नहीं है। उसके लिए भौतिक जगत् का उचित उपभोग और आध्यात्मिक मान्यताओं की प्राप्ति दोनों संभावना के अन्तर्गत हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि जिस सांस्कृतिक जगत् की सृष्टि मनुष्य ने हजारों पीढ़ियों में की है उसमें सफल प्रवेश कराना शिक्षा का ध्येय हो जाता है। प्रकृतिवादियों की शिक्षा का उद्देश्य तरह आदर्शवादी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र

से सन्तुष्ट होनेवाला नहीं, आदर्शवादी मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति की अभिव्यक्ति और विकास चाहता है। सच्चा आत्मबोध इसी में है। उसके व्यक्तित्व का वास्तविक उन्नयन भी इसी में है। शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि युग-मर्यादित सांस्कृतिक जगत् में प्रवेश करा कर वह इस उन्नयन अथवा आत्मबोध को संभव कर दे।

इस आत्मबोध (self-realisation) का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का उच्चतम आध्यात्मिक उन्नयन संभव हो जाय। यह उन्नयन तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्य अपनी जन्मजात संभावनाओं को प्राप्त कर ले। आदर्शवादियों का यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न संभावनाओं को लेकर पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ करता है। सभी संभावनाएँ किसी भी व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो पातीं। इनकी प्राप्ति के लिए अनुकूल वातावरण चाहिए। बिना पर्याप्त सांस्कृतिक वातावरण के मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्णरूप में प्रस्फुटित नहीं हो पाता। इसी सांस्कृतिक सम्पत्ति के द्वार पर शिक्षा मनुष्य को ला खड़ा करती है।

विभिन्न व्यक्तियों की संभावनाएँ यद्यपि एक-सी नहीं होतीं तथापि प्रत्येक की कुछ-न-कुछ अवश्य हुआ करतीं। इन्हीं भिन्नताओं में प्रत्येक व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व निवास करता है। ये भिन्नताएँ आध्यात्मिक और पाशविक दोनों तत्त्वों में हुआ करतीं। शिक्षा का यह लक्ष्य है कि वह मनुष्य के आध्यात्मिक तत्त्व को अधिक-से-अधिक मात्रा में उन्नत करे। आजकल जो सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए दलीलें दी जाती हैं उनकी आधारशिला यही आदर्शवादी दार्शनिक सिद्धान्त है। व्यक्तित्व के पूर्णतम विकास का आदर्शवादी दर्शन पक्षपाती है। इसीलिए, प्रत्येक व्यक्ति की उचित शिक्षा आदर्शवादी शैक्षिक उद्देश्य का एक मुख्य अंग बन जाती है।

पशु एक प्राकृतिक वातावरण में उत्पन्न होता है। उस वातावरण पर आधिपत्य प्राप्त करने तथा उसे अपने अनुकूल परिवर्तित करने में वह अधिकांश में अशक्त हुआ करता। अपने को ही वह उसके अनुकूल बनाने की यथासाध्य चेष्टा करता है। यदि इसमें वह कृतकार्य हुआ तो ठीक ही है और यदि नहीं तो उसकी हस्ती ही मिट जाया करती है। परन्तु, सृष्टि की श्रेष्ठतम विभूति मानव इतना अक्षम नहीं। जब कि प्रकृति की प्रतिकूलता को देखकर पशु नतशिर हो जाता है आदमी अदम्य उत्साह के साथ उसे अधिकृत करने के लिए अग्रसर होता है। मनुष्य को इस कार्य के लिए सक्षम बनाना शिक्षा का कर्त्तव्य है। जन्मजात शक्तियों को पूर्णरूपेण विकसित कर मनुष्य-जीवन को सफल और सार्थक बनाने में शिक्षा सहायक होती है। जो शिक्षा यह काम नहीं करती, उसे सच्ची शिक्षा की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती।

जहाँ तक सांस्कृतिक वातावरण का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि यह पशुओं के लिए बिल्कुल असंभव है। सांस्कृतिक विभूतियाँ मनुष्यकृत हैं और मनुष्य ही उनमें प्रवेश पा सकता है तथा उन्हें परिवर्द्धित कर सकता है। यह सांस्कृतिक सम्पत्ति साहित्य, कला, नीतिशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान तथा धर्मशास्त्र के रूप में हमारे बीच वर्त्तमान है। इसमें प्रवेश कर हमारी आध्यात्मिक प्रकृति जगती और प्रस्फुटित

होती है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह इसमें प्रवेश करे और अपना-अपना योगदान यथासंभव करे। ये निधियाँ न व्यक्तिविशेष की देन हैं और न व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति कही जा सकतीं। सारी मनुष्य जाति की यह सम्मिलित देन समस्त मनुष्य जाति की ही कही जा सकती। इस व्यक्तिगत देन को संभव करने में शिक्षा हमें समर्थ करती है।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री टी० परसी० नन ने इसी आदर्शवादी आत्मबोध (self realisation) को शिक्षा का उद्देश्य माना है। जन्म-जात संभावनाओं को यथासंभव प्राप्त करते हुए अपने व्यक्तित्व को शिक्षा की सहायता से विकसित करना नन एक महत्त्वपूर्ण काम मानता है। इसी में वह व्यक्ति और समाज दोनों का वास्तविक कल्याण समझता है। यदि व्यक्ति ने ही पूर्णता नहीं प्राप्त की तो व्यक्तियों का समाज क्या खाक उन्नत होगा। जो-जो आदर्श अथवा मान्यताएँ (values) आध्यात्मिक जगत् के तत्त्व हैं वे मनुष्य के, मानसिक, भावात्मक और क्रियात्मक प्रयासों के परिणाम हैं और 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इन्हीं आध्यात्मिक तत्त्वों के व्यक्तरूप हैं। विश्व की वास्तविकता इन्हीं तत्त्वों में है।

स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम का कोई निजी महत्त्व नहीं हुआ

पाठ्य-क्रम

करता। वह साधन के रूप में शिक्षकों के समक्ष आता है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए

पाठ्य-क्रम हम निर्धारित किया करते हैं।

आदर्शवादी उद्देश्य का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जो आदर्श तथा भावनाएँ अथवा सांस्कृतिक सम्पत्ति समस्त मानव जाति के द्वारा संचित की जा चुकी हैं उन्हें आगे की पीढ़ियों तक पहुँचाना पाठ्य-क्रम का पहला काम माना जाता है, ताकि हमारी सन्तान उन्हें प्राप्त कर आत्मबोध प्राप्त करे और अपना आध्यात्मिक उन्नयन संभव कर सके। इतना ही नहीं, संभवतः मानवजाति की उस सांस्कृतिक निधि

में अपना भी योगदान देकर आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए रख छोड़े।

आदर्शवाद का प्रबल समर्थक प्लेटो का विचार है कि शैक्षिक पाठ्य-क्रम में उन तत्त्वों का समावेश होना चाहिए जो मनुष्य के सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नयन को संभव करते हैं। ऐसे तत्त्वों में वह सत्य (truth), शिव (goodness) तथा सुन्दरम् (beauty) को उच्च स्थान प्रदान करता है। प्लेटो इन्हें साधन के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहता। वह इन्हें साध्य मानता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वयं विश्वात्मा की विभूतियाँ हैं। इनकी प्राप्ति परमात्मा की प्राप्ति है। हमें अपने जीवन की प्रत्येक प्रतिक्रिया में सत्य को अपनाना चाहिए। उसी तरह भद्रता और सौन्दर्य को अपनाने के लिए उन्हें अपने जीवन में स्थान देना चाहिए। ये तीनों विभूतियाँ अथवा नैसर्गिक गुण स्वयं ग्राह्य हैं। अतः इनकी प्राप्ति के सभी साधनों को पाठ्य-क्रम में सम्मिलित होना चाहिए।

आधुनिक युग में हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी सत्य को बड़ी प्रधानता दी है। वे सत्य और अहिंसा को एक ही वस्तु के दो रूप मानते हैं। यही नहीं, वे सत्य और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। ठीक भी है कि जो सत्य है वह शिव और सुन्दर भी है। जो सुन्दर है वह शिव और सत्य भी है। अंगरेजी भाषा के प्रसिद्ध कवि ने भी सत्य और सौन्दर्य को अभिन्न माना है और उन्हें परमोच्च स्थान प्रदान किया है। स्पष्ट है कि जो सत्य और सुन्दर है वही भद्र और कल्याणकारी हो सकता है।

आध्यात्मिकता के ये तीनों अंग मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक तथा कलात्मक अनुभवों के प्रतिनिधि हैं अतः 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की प्राप्ति बौद्धिक, नैतिक तथा कलात्मक क्रियाओं तथा अनुभवों से संभव हो सकती है। बौद्धिक क्रियाओं के लिए भाषा, साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास तथा भूगोल आदि विषय उपयुक्त हैं, नैतिक क्रियाओं के निमित्त नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन आवश्यक है

और कलात्मक या सौन्दर्यात्मक क्रियाओं तथा अनुभवों के निमित्त काव्य तथा विभिन्न ललित कलाएँ उपयुक्त हैं।

नन आदर्शवादी है। उसने पाठ्यक्रम की विशद विवेचना की है। वह मानव क्रियाओं को दो भागों में विभक्त करता है—एक व्यक्ति तथा समाज के लिए कल्याणकारी और दूसरी सभ्यता तथा संस्कृति का संरक्षण और परिवर्द्धन करनेवाली। पहली के लिए नन शारीरिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, समाज शास्त्र, नीति तथा धर्म शिक्षा आवश्यक मानता है और दूसरी के लिए साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा ललित कलाओं का अध्ययन आवश्यक समझता है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त विषय आदर्शवादी पाठ्य-क्रम के आवश्यक अंग बन जायेंगे। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए इन तमाम विषयों का अध्ययन जरूरी समझा जाता है।

रॉस ने शिक्षा के इसी बहुमुखी स्वरूप का सुन्दर चित्रण किया है। शिक्षा को उसने पहले दो विभागों में बाँटा है—शारीरिक और आध्यात्मिक। शारीरिक शिक्षा को भी रॉस इसलिए आवश्यक समझता है कि सुन्दर स्वास्थ्य के अभाव में आध्यात्मिक क्रियाएँ असंभव हो जायेंगी। अतः यदि साध्य के रूप में नहीं तो साधन के ही रूप में शारीरिक स्वास्थ्य परमावश्यक है। इस शारीरिक शिक्षा को रॉस पुनः दो भागों में विभक्त करता है—स्वास्थ्य-रक्षा तथा हस्तकौशल। उसी तरह आध्यात्मिक शिक्षा में वह मानसिक, नैतिक, कलात्मक तथा धार्मिक शिक्षाओं को सम्मिलित करता है।

प्रकृतिवादी शैक्षिक पद्धति में हम शिक्षक का स्थान देख चुके हैं। शिक्षक का निरादर और उसकी अनावश्यकता जितनी इस पद्धति में

शिक्षक का स्थान

है उतनी कदाचित् ही कहीं होगी। शिक्षक पर सदैव संदेह की दृष्टि रहती है। उसे न

कोई उपदेश देना है और न अपने विचार बच्चों के समक्ष रखने हैं। किसी प्रकार का निर्देश अथवा हस्तक्षेप करने का उसे अधिकार नहीं। उसे एक निरीक्षक मात्र बनकर रहने का अधिकार है। किसी-किसी

प्रकृतिवादी ने शिक्षक को बच्चों की रंगशाला आयोजित करने का अधिकार दिया है। फिर भी अभिनय के सारे काम—आरम्भ से अन्त तक—बच्चों के निर्देश तथा क्रिया-कलाप से पूर्ण होने का आदेश दिया गया है।

पर आदर्शवादी शैक्षिक प्रणाली में शिक्षक का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह अवश्य माना जाता है कि बच्चे अपनी-अपनी संभावनाओं के अनुसार विकसित होते हैं और उन संभावनाओं में शिक्षक परिवर्तन नहीं कर सकता है। ठीक है, पर यह विश्वास किया जाता है कि जन्मजात संभावनाओं को संभव करने में शिक्षक सहायक हो सकता है। प्रतिकूल परिस्थिति में वे जन्मजात संभावनाएँ यों ही पड़ी रह जा सकती हैं अथवा उनमें से कुछ ही आंशिक विकास पा सकती हैं। ऐसी ही हालत में शिक्षक की आवश्यकता आदर्शवादी समझते हैं। और नहीं तो शिक्षक परिस्थिति को अनुकूल बनाने में तो काफी सहायक हो सकता है।

फ्रुवेल ने स्कूल की उपमा वाटिका से देते हुए कहा है कि विद्यालय यदि वाटिका है, तो विद्यार्थी छोटे-छोटे पौधे हैं और शिक्षक उस वाटिका का चतुर माली। यह ठीक है कि गुलाब के पौधे में कमल का फूल नहीं लग सकता। प्रत्येक पौधा अपनी-अपनी मौलिक संभावनाओं के अनुसार ही विकसित, पल्लवित और पुष्पित होता है, तथापि उन पौधों के स्वाभाविक और अनवरुद्ध विकास में एक माली बहुत अधिक सहायक हो सकता है। फूल के कोमल पौधे को घास तथा अन्य जंगली लतियों से बचाना, उन्हें सींचना और खाद डालना तथा जानवरों से उनकी रक्षा करना, इत्यादि काम एक चतुर माली करता है। उसी प्रकार एक चतुर शिक्षक अनुकूल वातावरण को उपस्थित करने में यथासंभव प्रयत्नशील हो सकता है और अपनी-अपनी जन्मजात संभावनाओं को अधिक-से-अधिक मात्रा में संभव कर लेने में शिक्षक बच्चों की पर्याप्त सहायता कर सकता है।

रांस ने इन्हीं बातों को बड़े सुन्दर शब्दों में रखा है। वह कहता

है कि प्रकृतिवादी भाड़-जंगलों से सन्तुष्ट हो सकता है, परन्तु आशावादी सुन्दर गुलाब के फूल चाहता है। इसलिए, शिक्षक अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल विकसित होते हुए विद्यार्थियों को उस स्तर पर पहुँचने में सहायता करता है जो उस सहायता के अभाव की स्थिति में उन्हें प्राप्त नहीं हो पाता। *

प्रकृतिवादी अनुशासन का स्वरूप हम देख चुके हैं। प्रकृतिवाद के अनुयायी बालक के लिए परम स्वतन्त्रता के समर्थक हैं, पर आदर्शवादी दार्शनिकों का विश्वास है कि परम अनुशासन स्वतन्त्रता प्रायः स्वच्छन्दता तथा उछुंखलता में परिणत हो जाती है। उछुंखलता प्रायः अनियम तथा अराजकता की ओर हमें ले जाती है। अतः अनुशासनहीनता अपेक्षित नहीं।

इसके अतिरिक्त परम स्वतन्त्रता अथवा अनुशासनहीनता जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर की चीज है। मनुष्य किसी निर्जन वन में रह कर मनचाही जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति नहीं। उसे तो आरम्भ से अन्त तक समाज के अन्तर्गत तथा समाज का होकर रहना है। सामाजिक जीवन की नींव वैयक्तिक स्वच्छन्दता की भूमि पर नहीं डाली जा सकती। वहाँ तो उसे 'लेन-देन' (give and take) की नीति निभानी है। अतः जीवन की यथार्थता से शिक्षा को दूर रखना अनुचित ही माना जायगा। सारी जिन्दगी हमें जिस तरह बितानी है, उसकी शिक्षा और आदत हमें आरम्भ से ही होनी चाहिए। आरम्भ में ही आदत बिगाड़ लेने पर आगे की जिन्दगी दुःखमय हो जा सकती है। यही कारण है कि आदर्शवादी परम स्वतन्त्रता को पसन्द नहीं करते।

और भी, अनुशासनहीनता में व्यक्ति का भी कल्याण नहीं।

“*The naturalist may be content with briars but the idealist wants fine roses. So the educator by his efforts assists the educand, who is developing according to the laws of his nature, to attain levels that would otherwise be denied to him.”

आदर्शवादी नैतिकता तथा धार्मिकता को यदि व्यक्ति प्राप्त करना चाहे तो उसे किसी-न-किसी प्रकार के अनुशासन के अन्तर्गत आना पड़ेगा। मनोवृत्तियों की स्वच्छन्दता उसे सत्पथ से दूर ला फेंकेगी आध्यात्मिकता की आधारशिला अनुशासन है, न कि अराजकता अथवा अनियम।

अतः यदि अनुशासन आवश्यक है तो अनुशासनकर्ता की आवश्यकता अवश्य हो जाती है। इस अनुशासन को उचित वातावरण का आयोजन कर शिक्षक सफल बना सकता है। कोई जरूरी नहीं कि यह अनुशासन कठोर हो। सच पूछो तो हिंसा, क्रोध और कठोरता के आधार पर किया गया अनुशासन अन्त में असफल ही सिद्ध होता है। दमन अथवा शमन से हमारी दुर्वृत्तियाँ शान्त नहीं हो जातीं, प्रत्युत और भी भभक पड़ती हैं। दमन अमंगल प्रतिक्रियाओं को जन्म दे देता है। उपदेश, उदाहरण तथा प्रेम द्वारा किया गया अनुशासन सफल ही नहीं होता, बल्कि अपने बाद किसी प्रतिक्रिया को उत्पन्न नहीं होने देता। दमन का परिणाम हम अपने स्वतन्त्रता-संग्राम के समय देख चुके हैं। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

अनुशासन के क्षेत्र में अपने शिक्षकों से आदर्शवादी यह आशा करता है कि वे अपने निर्मल और संस्कृत चरित्र का आदर्श और उदाहरण बालकों के समक्ष रखेंगे। और बालक उस आदर्श-प्रसूत अनुशासन को स्वयमेव ग्रहण करने लगेंगे। यह प्रक्रिया अप्रत्यक्ष रूप में आप-से-आप परिचालित होती रहेगी। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर शिक्षक उपदेश और आदेश का भी आश्रय ले सकते हैं। सुन्दर, सुखद और सफल अनुशासन के आधार पर ही आध्यात्मिक उन्नयन संभव है। ऐसे प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण अनुशासन के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक बाल-प्रकृति का सम्यक् अध्ययन करें। फ्रुवेल ने ठीक ही कहा है कि बालक की अभिरुचियों के सम्यक् ज्ञान तथा प्रेम और

समवेदना की अभिव्यक्ति द्वारा ही हमें बच्चों के ऊपर शासन करना चाहिए।†

मनोविज्ञान एक अस्त्यात्मक (positive) विज्ञान है। अन्य भौतिक विज्ञानों की तरह उसने भी अपना स्वरूप वही रखा। परिणाम यह है कि किसी भी वस्तु की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर इसने मनुष्य के आचार-विचार के अन्दर कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। आदर्श, मान्यताएँ या मूल्य (values) नैतिकता तथा आध्यात्मिकता आदि की ओर से मनोविज्ञान उदासीन रहा है। मानव-जीवन के केवल उन्हीं पहलुओं पर मनोविज्ञान ने ध्यान केन्द्रित किया है जिनके वैज्ञानिक निरीक्षण और प्रयोग हो सकते हैं। यही कारण है कि आदर्शवादी इस बात को नहीं स्वीकार करते कि मनोविज्ञान हमारे शैक्षिक सिद्धान्तों का पूर्ण आधार बन सकता है। हमारे मानसिक जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं पर मनोविज्ञान भले ही प्रकाश डालने में समर्थ हो, पर मानव आचरण की पूर्ण व्याख्या उसके कारणों के स्पष्टीकरण के रूप में नहीं दे सकता।

मनोवैज्ञानिक निश्चयवाद (psychological determinism) को आज का मनोविज्ञान प्रश्रय देता है। वह इस बात को मानता है कि मानव आचरणों और विचारों के क्षेत्र में भी भौतिक जगत की भाँति कार्य-कारण सम्बन्ध है। किसी भी व्यक्ति का किसी भी काल में जो एक आचरण होता है उसका रूप मानो पूर्वनिश्चित हुआ करता है। कहने का तात्पर्य यह कि उस काल में उस व्यक्ति का वही आचरण हो सकता था, दूसरा नहीं। यही नहीं, विचारों के क्षेत्र में भी यही अवस्था होती है। जो एक भावना या विचार किसी काल में हमारे मानस में प्रादुर्भूत होता है, वही विचार उस काल में हमारे मस्तिष्क में उठ सकता था

† "Control over the child was to be exercised through a knowledge of his interest and by expression of love and sympathy."

दूसरा नहीं। हार्ट ने इसी मनोवैज्ञानिक निश्चयवाद (determinism) को बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णित किया है। वह कहता है कि भौतिक जगत की भाँति मानसिक जगत में भी प्रत्येक घटना के लिए एक कारण चाहिए। यदि पूर्व कारण वर्तमान रहे हैं तो परिणाम होकर रहेगा। यदि हम किसी परिणाम या कार्य को देखते हैं तब हम समझते हैं कि अवश्य कुछ निश्चित कारणों ने मिल कर उसे उत्पन्न किया है। भौतिक विज्ञान (physics) की तरह मनोविज्ञान में संयोग (chance) का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक विचार जो हमारे मानस में उत्पन्न होता है, चाहे जितना भी आकस्मिक और अनर्गल क्यों नहीं मालूम पड़ता हो, वही, केवल वही विचार पूर्व की अनेकानेक मानसिक प्रक्रियाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो सकता था।*

आदर्शवाद मनोविज्ञान के इस दावे को नहीं मानता। वह समझता है कि मनोविज्ञान अपने अनुसन्धानों की वर्तमान स्थिति में मनुष्य के आचरणों की कार्य-कारण सम्बन्धी पूरी व्याख्या देने में असमर्थ है। आदर्श तथा मनुष्य के आध्यात्मिक मनोवेगों और प्रेरणाओं को अपने अध्ययन-क्षेत्र में स्थान नहीं देकर मनोविज्ञान यह नहीं बता पाता कि एक साधारण मनुष्य किसी महान कार्य को करने में क्यों समर्थ हो जाता है। मनोविज्ञान मनुष्यों की व्यक्तिगत बुद्धि की परीक्षा कर यह बताने का दावा करता है कि अमुक व्यक्ति अपने अमुक बौद्धिक स्तर के कारण अमुक स्तर के कार्य कर सकता है, पर यह प्रायः देखा

* "In the psychical world, as in the world of matter, every event must have a cause. Provided that the necessary antecedents are present, then the result will inevitably follow; and if we see the result, then we know that certain definite causes must have combined in order to produce it. Chance has no more part in psychology than it has in physics. Every thought which flits through the mind, however casual irrelevant it may seem to be is the only thought which can possibly result from the various mental processes which preceded it."

गया है कि बौद्धिक दृष्टि से एक साधारण मनुष्य एक असाधारण काम कर बैठा है। देश और धर्म के लिए सर्वस्व स्वाहा कर दिया है; राष्ट्र की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग को भी तुच्छ समझा है, आन पर जान दे दी है और हँसते-हँसते फाँसी की तख्ती पर झूल गया है। मनोविज्ञान के पास ऐसे कार्यों की पूरी व्याख्या नहीं। आदर्शवाद इस व्याख्या का दावा करता है। वह कहता है कि मानव-प्रकृति में निवास करनेवाली आध्यात्मिकता, जिसे मनोविज्ञान विस्मृत कर देता है, ऐसे महान कार्यों की व्याख्या दे सकती है।

इन्हीं कारणों से आदर्शवाद यह स्वीकार नहीं करता कि मनोविज्ञान हमारे शैक्षिक सिद्धान्तों का आधार बन सकता है। मानवीय आचरणों के स्तर को सीमित और निश्चित मानकर मनोविज्ञान निराशावादी बन जाता है, पर आदर्शवाद आशावादी।

मानस-विश्लेषण-शास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही मुख्य अंग बन गया है, आदर्शवाद को अधिकांश में मान्य है। मानस-विश्लेषण-शास्त्र का आधारभूत विषय यह है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ अधिकांश में पाशविक हुआ करती हैं; पर उसकी प्रकृति का एक स्वरूप आध्यात्मिक भी हुआ करता है। इन दोनों के बीच सतत संघर्ष चलता रहता है। इतना ही नहीं, उसकी पाशविक प्रवृत्ति और सामाजिक आदर्श तथा मान्यताओं अथवा मूल्यों (values) के बीच भी विभेद होने के कारण संघर्ष उत्पन्न हो जाया करता है। इस विभेद को मिटा कर संघर्ष को कम करना परम आवश्यक कार्य हो जाता है। इसके लिए मानस-विश्लेषण-शास्त्र ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर मानव जाति का महान कल्याण किया है।

आदर्शवादी भी इस संघर्ष की सत्ता को स्वीकार करता है। इसे कम करने के लिए उसने भी अनेक सिद्धान्त रखे हैं। आदर्शवाद शिक्षा का यह उद्देश्य मानता है कि मनुष्य की जन्मजात पाशविक

प्रवृत्तियों का उचित संशोधन शिक्षा द्वारा किया जाय। उपदेश, उदाहरण, आदेश तथा अन्य उचित उपायों द्वारा मनुष्य का नैतिक स्तर ऊँचा किया जाय, ताकि समाजगत आदर्श और मान्यताओं तथा मनुष्य की संस्कृत मनोवृत्ति के बीच कम-से-कम विभेद बच जाय। अभिभावकों और शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि मनुष्य के नैतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए वे अनुकूल वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा करें। मनुष्य की आदि प्रकृति के उचित संस्कार के अभाव में मानव-कल्याण संभव नहीं।

अध्याय १२

शिक्षा में प्रयोजनवाद

(Pragmatism in Education)

“Man is the only subject in which, whatever their type or the degree of their ability, all men are interested. Co-ordination of knowledge and experience should be made in human terms.”

—*Aldous Huxley.*

“Subjects were not invented for scholastic purposes, but are the tools and instruments which the human race has crystallized out of its experience in order to understand the world in which it lives.”

—*Spens Report.*

“Truths, if any, are man-made products. Reality is still in the making.”.....“All systems of ideas are relative to the situation in which they arise and the personalities they satisfy, and are subject to continuous verification by consequences.”..... “Whatever fulfils man's purpose, desires and develops his life, is true,”

यूरोप के कुछ निवासी जब अमेरिका में पहली बार आ बसे तो उन्हें पता चला कि यहाँ तो सारी बातें निराली हैं। सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ जो उनके यूरोपीय जीवन में अभिन्न अंग की तरह बन गई थीं; जिन प्रचलनों और आदर्शों के वे आज तक अभ्यस्त थे वे इस नए देश में बिल्कुल नहीं थे। और तो और, समाज भी बिल्कुल नया था। नवागत मनुष्य भिन्न-भिन्न देशों से आये हुए थे।

जीवन में पहली बार उन्हें ज्ञात हुआ कि पहली सारी व्यवस्था इस नए देश में आकर लचर गई है। पुराने जितने आदर्श, मूल्य तथा सिद्धान्त थे वे एकाएक बेकार साबित होने लगे। इस नई परिस्थिति में उनकी मुगमर्यादित उपयोगिता चकनाचूर हो गई। जिन्हें वे सत्य—सनातन सत्य—माने आज तक बैठे थे वे अचानक असत्य और अनुपयुक्त दीखने लगे। जिन नियमों, सिद्धान्तों और आदर्शों में वे आज तक विश्वास करते आये थे वह विश्वास इस नवीन जीवन की कठोर परिस्थितियों के सामने अनुपयुक्त होने के कारण फट गया। अब उन्हें मालूम पड़ने लगा कि सनातन सत्य नाम की कोई वस्तु इस विश्व में नहीं है। कोई भी सिद्धान्त त्रिकाल के लिए ठीक नहीं। जिसमें सामयिक उपयोगिता होती है वही सत्य और अच्छा माना जाता है। अतः सत्य, आदर्श, नीति तथा सिद्धान्तों का कोई स्थिर या सनातन स्वरूप नहीं हुआ करता। जब जो उपयोगी सिद्ध हुआ लोग उसी को सत्य और अच्छा मानते आये हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि सत्य, सिद्धान्त, आदर्श, मूल्य, नीति तथा नियमों का स्वरूप प्रत्येक काल में परिवर्तित होता आया है और भविष्य में होता रहेगा। सनातन सत्य केवल धोखा है। सत्य मनुष्यकृत है। जो कल तक सत्य था आज असत्य साबित हो गया। जो आज सत्य है कल असत्य हो जा सकता है। मनुष्य अपने प्रयोजन के अनुसार नए-नए सिद्धान्त तथा आदर्शों का निर्माण करता आया है। मनुष्य के प्रयोजन तथा लाभ से बढ़ कर इस संसार में कुछ नहीं है। संसार

की सारी चीजों की अच्छाई-बुराई, उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि का एक मात्र मापदंड मनुष्य है। मनुष्य के व्यवहार अथवा प्रयोगों द्वारा जिस सत्य की परीक्षा की जा सके वही तो सत्य है, नहीं तो नहीं। अधिक दिनों तक समाज द्वारा स्वीकृत हो जाने मात्र से कोई सत्य वास्तविक सत्य नहीं हो सकता। न्याय, नीति, सत्य और आदर्श सारे-के-सारे परिवर्तनशील हैं। आत्मा-परमात्मा कोई वस्तु नहीं। परमात्मा की यदि प्रत्यक्ष रूप से उपयोगिता सिद्ध हो सके तो बेशक उसे मान लिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। 'दिल के बहलाने को बेशक यह खयाल अच्छा है।'

प्रयोजनवाद इसे भी स्वीकार करता है कि अपने वातावरण के अनुकूल अपने को बनाने की योग्यता मनुष्य में है। यथासंभव वातावरण को भी वह अपने अनुकूल परिवर्तित करता रहता है और शिक्षा उसे वातावरण के अनुकूल अपने को परिवर्तित करने में तथा अपने अनुकूल वातावरण को परिवर्तित करने में सहायता प्रदान करती है।

प्रयोजनवाद के प्रमुख प्रवर्तकों में विलियम जेम्स, शिलर तथा जॉन ड्यूई के नाम लिए जा सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में ड्यूई की प्रयोजनवादी देन बड़े महत्त्व की है।

स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद ज्ञान के स्वतंत्र मूल्य या महत्त्व को नहीं मानता। जब मनुष्य के लिए किसी भी वस्तु की उपयोगिता ही उसके मूल्य का मापदंड है तो वस्तु के स्वतंत्र मूल्य का प्रश्न ही नहीं उठता। 'ज्ञान ज्ञान के लिए', 'कला कला के लिए' यह सिद्धान्त प्रयोजनवाद की दृष्टि में सारहीन है। मनुष्य के जीवन को सफल, सार्थक और सुखी बनानेवाला ज्ञान-विज्ञान ही काम का है, अन्य बेकार।

ऊपर की पंक्तियों में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि प्रयोजनवाद किसी भी पूर्वनिर्धारित मूल्य, सिद्धान्त अथवा आदर्श में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार जीवन

शिक्षा का उद्देश्य

की दौड़ में विभिन्न प्रक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं

के क्रम में आदर्श बनते और परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में शिक्षा का कोई पूर्वनिर्धारित उद्देश्य हो भी कैसे सकता है।

जीवन-संग्राम को सफल बनाना शिक्षा का परम कर्तव्य है। जीवनगत इन्हीं विभिन्न प्रयोगों और अनुभवों के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने मूल्यों और आदर्शों का स्वयं निर्माण करता चलता है। शिक्षा मूल्यों और सिद्धान्तों के इस निर्धारण में सहायता प्रदान करती है। रॉस कहता है कि नए मूल्यों तथा सिद्धान्तों का निर्धारण करना ही प्रयोजनवादियों के अनुसार सामान्य शैक्षिक उद्देश्य है और शिक्षक का मुख्य कर्तव्य विद्यार्थी को इस स्थिति में कर देना है कि वह मूल्यों को स्वयमेव निर्धारित करे। * आदर्शवादियों का पूर्व-निर्धारित 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' निरर्थक है। यहाँ तो बालक को अपने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की सृष्टि करनी है और वह भी वास्तविक जीवन की प्रतिक्रियाओं के क्रम में, न कि उनसे स्वतंत्र होकर चिन्तन अथवा मनन द्वारा। वास्तविक जीवन की रगड़ में जो सिद्धान्त अथवा आदर्श दृष्टि-गोचर होते हैं वे ही सत्य हैं। व्यावहारिक जीवन में जिन सिद्धान्तों की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी है, सफलता को संभव कराने में जिनका महत्त्व प्रत्यक्ष हो चुका है, सामयिक दृष्टि से वे ही सिद्धान्त सत्य सिद्धान्त हैं। व्यावहारिकता की कसौटी पर खोटे उतरनेवाले युग-मर्यादित सत्य भी असत्य ही हैं। किसी काल में वे सत्य भले ही रहे हों, वे आज असत्य अवश्य हैं। इसीलिए शिक्षा का यह उद्देश्य है कि वह प्रत्येक काल में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के स्वरूप के निर्माण करने में सहायता प्रदान करे।

प्रकृतिवाद की तरह प्रयोजनवाद भी शिक्षा को बाल-केन्द्रित करना चाहता है। बालक और उसकी क्षमता में उसका अखंड विश्वास है। प्रयोजनवादी का कथन है कि बालक नाना प्रकार की सुप्त शक्तियों का आगार हैं जिनकी अभिव्यक्ति निरंतर होती रहती है। प्राकृतिक तथा

*"The most general educational aim of the pragmatist is just the creation of new values; the main task of the educator is to put the educand into a position to develop values for himself."

सामाजिक वातावरण में सतत सहवास के परिणामस्वरूप बालक का संघर्ष चलता रहता है और नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। प्रयोजनवादी सामाजिक वातावरण को बहुत अधिक महत्व देते हैं। इसीलिए इस वातावरण को वे शिक्षा का मुख्य आधार या साधन मानते हैं। शिक्षा से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक वातावरण का शुद्ध और संस्कृत स्वरूप शिक्षालय में उपस्थित करे ताकि बच्चे वयस्क होते-होते पूर्ण सामाजिक दक्षता (Social efficiency) प्राप्त कर लें। जो शिक्षा इस दक्षता को उत्पन्न करने में सफल नहीं होती वह उनकी दृष्टि में अधूरी है। इसीलिए प्रयोजनवादी पंडित स्कूल की कल्पना एक सूक्ष्म आदर्श समाज के रूप में करते हैं। शिक्षण-सामग्रियाँ भी बाह्य समाज के वास्तविक उपकरणों का सूक्ष्म स्वरूप होती हैं।

प्रयोजनवादियों को प्रजातंत्र में अखंड विश्वास है। विद्यालय का प्रबन्ध भी वे प्रजातंत्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल करना चाहते हैं। एक तरफ प्रकृतिवादी नागरिकता से इतना भड़कते हैं और यह कहते हैं कि तुम्हें व्यक्ति और नागरिक दोनों के बीच पहले ही चुनाव कर लेना चाहिए। बालक को तुम मनुष्य बनाना चाहते हो या नागरिक। यदि उसे नागरिक बनाना चाहते हो तो उसे मनुष्यता से हाथ धोना पड़ेगा। संभव है रूसो के ये उद्गार तत्कालीन भ्रष्ट समाज और उनके नागरिकों को देखकर निकले हों। जो भी हो, प्रयोजनवादी सफल नागरिकता को शिक्षा का लक्ष्य मानते हैं और सामाजीकरण के सभी साधनों का उपयोग वे अपनी शैक्षिक पद्धति में करना चाहते हैं। यही कारण है कि वे शिक्षा द्वारा बालक की पाशविक प्रवृत्तियों का संशोधन सामाजिक आदर्शों के आधार पर चाहते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विद्यालय के अन्दर जिन शैक्षिक अनुभवों का आयोजन किया जाता है उनका स्वरूप सामाजिक हुआ करता है। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोजनवाद जीवन की वास्तविकता के विल्कुल समीप है और व्यावहारिकता उसमें कूट-कूट कर भरी है। वे चाहते

हैं कि बालक जीवन की वास्तविकताओं को आधार बना कर अपने शैक्षिक प्रयोगों और क्रियाओं को करे।

रॉस कहता है कि प्रयोजनवादी अपनी कल्पित शिक्षा का यह परिणाम चाहते हैं कि वह व्यक्ति में क्रियाशील और अवसरानुकूल परिवर्तनशील मानसिक तत्त्वों का निर्माण करे जो सभी परिस्थितियों में उपयोगी और प्रगतिशील हो और अज्ञात भविष्य में भी मूल्यों और मान्यताओं के निर्माण करने की जिनमें शक्ति हो। *

प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम की योजना उसी के सिद्धान्तों के आधार पर की गई है। मूलतः मानवीय होने के कारण प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों का समावेश संभव है जिनका सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से किसी-न-किसी रूप में है। संसार की सभी वस्तुओं के मूल्य का एक ही मापदंड है और वह है मनुष्य और उसकी आवश्यकताएँ।

प्रयोजनवादी शिक्षा प्रकृतिवादी शिक्षा की तरह बाल-केन्द्रित होने के कारण इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों की योजना बालकों की जन्मजात मनोवृत्तियों, अभिरुचियों तथा क्षमताओं को दृष्टिकोण में रखकर की जाय। उनकी अभिरुचि के विपरीत उन पर कोई विषय या वस्तु लादी न जाय। संभाषण तथा कलात्मक क्रियाओं में बालकों की स्वाभाविक अभिरुचि हुआ करती है। अतः मौखिक शिक्षा तथा हस्तकार्य की प्रधानता उनके पाठ्यक्रम में होनी चाहिए।

पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों की उपयोगिता भी परमावश्यक है। प्रयोजनवादी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि विद्यार्थी जीवन आगे

*“The result looked for in such a conception of education is, so far as the individual is concerned, the cultivation of a dynamic, adaptable mind which will be resourceful and enterprising in all situations, one which will have power to create values in an unknown future”

आनेवाले वयस्क जीवन के लिए तैयारी करने का समय है। आदर्शवादियों की तरह प्रयोजनवादियों के लिए न ज्ञान, ज्ञान के लिए है, न कला, कला के लिए। ज्ञान अथवा कला साधन रूप में भले ही प्राप्त की जा सकती है। भिन्न-भिन्न विषयों की रचना केवल मानसिक व्यायाम के लिए नहीं की गई है, प्रत्युत जिस विश्व अथवा वातावरण में जीवन-यापन करना है उसे सम्यक् रूप में समझने के लिए हुई है। 'अनावश्यक ज्ञान को मस्तिष्क में ठूसने की क्रिया का परित्याग निर्दयतापूर्वक करना चाहिए और जो बचे हुए (आवश्यक) ज्ञान है उनका सामञ्जस्य विद्यार्थी के जीवन के साथ सार्थक रूप में होना चाहिए।* कहने का तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रमान्तर्गत विषयों के ज्ञान का जीवन-केन्द्रित होना परमावश्यक है।

प्रयोजनवादी इस बात को मानते हैं कि जिस शिक्षा का प्रयोजन जीवन संघर्ष में न हो अथवा जीवन-संग्राम को सफल बनाने में जो शिक्षा असफल होती है वह निस्सार है और उन विषयों अथवा ज्ञान को पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने का कोई अधिकार नहीं है। रॉस कहता है कि शिक्षा के परिणामस्वरूप विद्यार्थी में यह क्षमता उत्पन्न हो जानी चाहिए जिससे वह अपने आगे आनेवाले वयस्क जीवन की समस्याओं को हल कर सके। विद्यालय का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी सामर्थ्य उसमें उत्पन्न करे। उसके आज के अनुभव भविष्य की आवश्यकताओं के लिए संचित होने चाहिए।†

“*The useless lumber of learning ought to be ruthlessly discarded, and the remainder significantly related to the life of the pupil.”

J. S. Ross.

“†As a result of education the pupil must be competent to deal with the problems of later life, and his schooling must foster such competence. His here-and-now experience must be capitalized for future use.”

यदि बालक भाषा का अध्ययन करता है तो उसका प्रयोजन यही है कि वह अध्ययन उसे अपने जीवन के पग-पग पर अनुभूत होने-वाली बोल, पढ़ और लिख लेनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यदि वह इनकी पूर्ति नहीं करता तो उसे केवल एक मानसिक व्यायाम मानना चाहिए। गणित हम इसलिए पढ़ाते हैं कि उससे हमारे व्यावहारिक जीवन में अनुभूत होनेवाली सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इतिहास पाठ्यक्रम में इसलिए शामिल है कि वह हमें आज की घटनाओं अथवा विश्व के रंगमंच पर खेले जानेवाले दैनिक महान मानवीय अभिनय को समझने में सहायता प्रदान करता है। चूँकि आज की घटनाओं के कारण निकट तथा सुदूर भूत के गर्भ में छुपे पड़े हैं, इसलिए इतिहास उस भूत पर प्रकाश डालकर वर्तमान को समझने में हमारी सहायता करता है और भूगोल विश्व के इस प्राकृतिक रंगमंच का रहस्योद्घाटन करता है। जो ज्ञान, चाहे जिस विषय का हो, हमारी गुत्थियों को नहीं सुलझाता अथवा जिसका प्रयोजन हमें जीवन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नहीं होता और जो हमारी आज अथवा कल की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता वह हमारे लिए बेकार है।

इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज के पाठ्य-क्रमान्तर्गत जो भिन्न-भिन्न विषय हैं वे आवश्यक और उपयोगी हो सकते हैं पर प्रत्येक का प्रत्येक भाग आवश्यक नहीं कहा जा सकता। अतः जिस विषय के जो भाग वास्तविक जीवन के दृष्टिकोण से उपयोगी न हों उन्हें निकाल कर उस विषय को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। आखिर जीवन छोटा है और ज्ञान-भांडार अपार। पूरी ज्ञान-राशि को कोई चाहे भी तो अधिकृत नहीं कर सकता। इसे सभी स्वीकार करेंगे। तब तो किसी को चुनना और किसी को छोड़ना है ही। इस चुनाव का एक बौद्धिक आधार तो होना ही चाहिए। प्रयोजनवादी दर्शन के अनुसार यह आधार जीवन-साफल्य सम्बन्धी सिद्धान्त ही हो सकता है। अतः पाठ्यक्रम की योजना हमें इस मौलिक सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रख कर ही करनी चाहिए।

प्रयोजनवादी इस सिद्धान्त को भी अपने पाठ्य-क्रम के लिए बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं कि ज्ञान के द्वार एकमात्र कान और आँख ही नहीं प्रसूत हाथ और पैर भी हैं। अतः केवल पुस्तक-पाठ अथवा शिक्षकों की वक्तृता को शिक्षा का आधार बनाना सरासर भूल है। पुस्तकों की भरमार का नाम पाठ्यक्रम नहीं। वास्तव में अधिक उपयोगी पाठ्यक्रम तो वह हुआ करता है जो पुस्तकों की सूची के स्थान में अथवा उसके साथ-साथ शैक्षिक क्रियाओं की सूची को अपने में स्थान देता है। यथार्थ और परम व्यावहारिक ज्ञान सोद्देश्य शैक्षिक क्रियाओं का परिणाम हुआ करता है, न कि श्रवण अथवा पठन का। क्रिया-प्रसूत अथवा उद्योग-प्रसूत ज्ञान टिकाऊ हुआ करता है। यह आये दिन के अनुभव की बात है कि बच्चे रट-रट कर कुछ याद करने की चेष्टा करते हैं और परीक्षा के बाद कुछ ही दिनों में वे उसका अधिकांश भूल जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके समय और परिश्रम अधिकांश में नष्ट हो जाया करते हैं। पर क्रिया-प्रसूत अथवा उद्योग-केन्द्रित ज्ञान की वह दुरवस्था नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम की योजना इस सिद्धान्त की अवहेलना नहीं कर सकती। ऐसी सोद्देश्य क्रियाओं के रूप के लिए अधिक भटकने की आवश्यकता नहीं। जिस प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण में बालक रहता है उसी के आधार पर अनेक योजनाएँ बनाई जा सकती हैं जिनकी पूर्ति के लिए सोद्देश्य क्रियाओं की अपेक्षा होगी। बच्चों की तन्मयता जितनी इन क्रियाओं के सम्पादन में होती है वह शुष्क पुस्तक-पाठ में कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। क्रिया-प्रधान पाठ्य-क्रम की सफल समाप्ति के लिए डंडों की आवश्यकता नहीं होती। विभिन्न शैक्षिक क्रियाओं को बच्चे स्वयं प्रसन्नतापूर्वक करते हुए दिखाई पड़ते हैं और सारा कार्य आत्म-शिक्षण (auto education) का रूप धारण कर लेता है।

प्रयोजनवादी पाठ्य-क्रम में एक और सिद्धान्त की मर्यादा रखी जाती है। वह है पाठ्य-क्रमान्तर्गत विभिन्न विषयों के बीच संघटन

अथवा समवाय (correlation) का सिद्धान्त । प्रचलित शिक्षण-पद्धति में ज्ञान का विभाजन विभिन्नविषयों के रूप में किया जाता है । विशेष परिस्थितियों में इस विभाजन से सहूलियत भी होती है, पर इस विभाजन को सनातन मानना ज्ञान की वास्तविक इकाई को नष्ट कर देता है । प्रयोजनवादी हमें बताते हैं कि भाँति-भाँति के ज्ञान जो ऊपर से एक दूसरे से असम्बद्ध दिखाई पड़ते हैं वे वास्तव में सम्बद्ध हैं । पाठ्यक्रम में उनके पार्थक्य को बनाए रखना और तदनुसार कार्य करना भ्रमपूर्ण है ।

यह तो स्पष्ट ही है कि विभिन्नविषयक ज्ञान जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं । ज्ञान की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण यदि हम करें तो हमें पता चलेगा कि जीवन के एक-एक कार्य के सम्पादन में मनुष्य को कई प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते रहते हैं जिनका सम्बन्ध कई विषयों से हुआ करता है । केवल एक ही विषय (भाषा, विज्ञान, गणित, भूगोल अथवा इतिहास) से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान जीवन के किसी भी कार्य के सम्पादन में प्राप्त नहीं हुआ करता । जिसे हम शुद्ध इतिहास कहते हैं उसके अध्ययन से हमें केवल ऐतिहासिक ज्ञान ही उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत कुछ भाषा, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान भी अल्प मात्रा में हमें साथ-साथ प्राप्त होता चलता है । इससे स्पष्ट है कि ज्ञान अविभाज्य है और उसकी इस इकाई को हमें शिक्षण-कार्य में यथासंभव बनाए रखना चाहिए ।

इस संघटन के कार्य में एक कठिनाई है । आजकल की जो शिक्षण-पद्धति है उसमें भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा भिन्न-भिन्न शिक्षक देते हैं । ये शिक्षक अपने-अपने विषय से बाहर जाना पसन्द नहीं करते । परिणाम यह होता है कि विभिन्न विषयों के ज्ञान में जो स्वाभाविक सम्बद्धता होती है वह अधिकांश में नष्ट हो जाया करती है और बच्चों को ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो एक का दूसरे से कोई भी सम्बन्ध न हो । प्रयोजनवादियों के अनुसार यह प्रणाली गलत है ।

अन्य शिक्षाशास्त्री भी संघटन की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, पर साथ ही साथ वे इसे भी मानते हैं कि प्राथमिक विद्यालयों में, जहाँ एक ही शिक्षक कई विषय पढ़ाते हैं, वहाँ विषयों की इकाई बनाई रखी जा सकती है। ऊपर के वर्गों में हमें विषय-शिक्षक की आवश्यकता पड़ जायगी। पड़ जानी चाहिए भी।

जहाँ तक शैक्षिक उद्देश्य का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि प्रयोजनवाद कोई नपा-तुला उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में नहीं रख सकता और न रखने का दावा ही करता है।

प्रोजेक्ट

शिक्षण-प्रणाली

आदर्शवाद की तरह यहाँ पूर्व-निर्धारित आदर्श, मूल्य अथवा मान्यताएँ नहीं हैं, जिन्हें शिक्षा का उद्देश्य मान कर शिक्षण-प्रणाली स्थिर की जाय। प्रयोजनवाद के अनुसार 'सत्यं, शिवं सुन्दरम्' का स्वरूप शैक्षिक प्रक्रियाओं के क्रम में बालक स्वयं निर्माण करता चलता है।

जो भी हो, शिक्षण-प्रणाली के क्षेत्र में प्रयोजनवाद की देन बहुत महत्वपूर्ण है। प्रचलित प्रायः निर्जीव शिक्षण-प्रणालियों के स्थान में प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली की देन अवश्य क्रान्तिकारिणी कही जायगी।

प्रोजेक्ट एक साभिप्राय क्रिया है जो किसी योजना की पूर्ति के लिए की जाती है। यह योजना एक समस्या के रूप में होती है जो सामाजिक वातावरण में हल की जाती है। समस्या-सम्बन्धी इस साभिप्राय क्रिया का सफल सम्पादन ही प्रत्यक्ष लक्ष्य रहा करता है। पर इस सफल सम्पादन को विभिन्न प्रकार की शैक्षिक क्रियाओं की अपेक्षा होती है। परिणाम यह होता है कि शिक्षा का कार्य अनायास ही अप्रत्यक्ष, पर निश्चित रूप से, होता चलता है। बात यह होती है कि उस समस्यापूर्ण योजना की पूर्ति करने में बालकों को कुछ लिखने, कुछ पढ़ने, कुछ गणित सम्बन्धी तथा शिल्प-कला-सम्बन्धी कार्य करने की आवश्यकता अनुभूत होती है। विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान को प्राप्त करने तथा कला-कौशल प्राप्त करने के लिए

बालक स्वयं उत्सुक हो उठते हैं और अपनी प्रिय योजना को पूरा करने के लिए उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

मानना पड़ेगा कि शिक्षा प्राप्त करने का यह स्वरूप परम स्वाभाविक है और जीवन के वास्तविक स्वरूप के निकटतम है। इन योजनाओं और समस्याओं के स्वरूप समाजगत विभिन्न ढाँचों के ही आधार पर हुआ करते हैं। सामाजिक वातावरण को ही सूक्ष्म रूप में बालक अपने विद्यालय में उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। शिक्षक किसी समस्या को बच्चों के कंधे पर नहीं लादा करते। अनेक समस्याओं को वह बालकों के समक्ष परामर्श के रूप में भले ही रख सकता है, पर चुनाव होता है स्वयं बच्चों के द्वारा ही। अस्पताल, डाकखाना, स्टेशन, दूकान तथा भवन-निर्माण आदि योजनाओं में से बच्चे एक चुन लेते हैं। एक-एक योजना की पूर्ति में दिन, सप्ताह और महीने लग सकते हैं। आरम्भ से अन्त तक सभी बच्चे बड़े उत्साह, बड़ी लगन और बड़ी तत्परता से काम करते दिखाई देते हैं। बड़ी-बड़ी योजनाओं से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ विभिन्न भागों में बाँट ली जाती हैं और बच्चे छोटे-छोटे समूहों में बाँट कर अपने-अपने भाग से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओं का सम्पादन बड़ी प्रसन्नता और लगन से करने लग जाते हैं।

योजनाएँ दो प्रकार की होती हैं—वैयक्तिक और सामूहिक। साधारणतः सामूहिक योजनाएँ ही अधिक पसन्द की जाती हैं। जिन योजनाओं का सम्पादन पूरे समूह की क्रियाशीलता की अपेक्षा रखता है, उनका शैक्षिक महत्त्व भी अधिक हुआ करता है। इस प्रकार के कार्यों में न केवल योजनाएँ पूरी होती हैं, बल्कि विभिन्न विषयक ज्ञान भी बालकों को प्राप्त होते चलते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह होती है कि बच्चे मिलजुल कर काम करने का अभ्यास प्राप्त करते हैं। ऐसे अभ्यास का शैक्षिक महत्त्व बहुत अधिक समझा जाता है। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि आगे आनेवाले जीवन में जिस प्रकार के कार्य उन्हें एक दिन करने पड़ेंगे, उनका अभ्यास वे विद्यार्थी-जीवन

में ही प्राप्त कर लिया करते हैं। समस्या को हल करने में बच्चों को विभिन्न प्रकार के काम करने पड़ते हैं। उन्हें योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, कार्य-विभाजन करना पड़ता है, तत्सम्बन्धी बातों की जानकारी के लिए उन्हें पुस्तकों और शिक्षकों की शरण लेनी पड़ती है, कुछ लकड़ी अथवा मिट्टी के काम भी करने पड़ सकते हैं, कुछ नृत्य-गान सम्बन्धी कार्य भी कभी-कभी आ पड़ते हैं तथा कुछ चित्रकला सम्बन्धी कार्य करने की भी अपेक्षा हो सकती है। इस प्रकार समस्या के हल और योजनाओं की पूर्ति के साथ-साथ बच्चों को बहुमुखी शिक्षा भी प्राप्त होती चलती है।

प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली में कई त्रुटियाँ भी हैं। इस प्रणाली से पढ़ाने में यह देखा जाता है कि किसी विषय का सर्वांगीण ज्ञान नहीं होने पाता। एक ही प्रकार की शैक्षिक क्रियाओं की आवश्यकता भिन्न-भिन्न प्रोजेक्टों की पूर्ति में हो सकती है। परिणाम यह होता है कि उन क्रियाओं की पुनरावृत्ति बार-बार होती जाती है और अन्य क्रियाओं के लिए, जिन्हें कि शैक्षिक दृष्टि से आवश्यक कहा जा सकता है, अवसर ही नहीं प्राप्त होता। पर प्रयोजनवादी इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर देते हैं कि यह ठीक है कि कुछ विषयों के कुछ ज्ञान इस प्रणाली से पढ़ाने में छूट जाया करते हैं। लेकिन उससे नुकसान ही क्या है! स्पष्ट है कि जीवन सम्बन्धी प्रोजेक्टों की पूर्ति में जिन विषयों के जो ज्ञान छूट जाते हैं वे वास्तव में अनावश्यक हैं और उनका छूट जाना ही श्रेयस्कर है। हमें बच्चों के निर्बल कंधों पर वे गठरियाँ नहीं लादनी हैं जिनकी जरूरत जीवन-यात्रा में होगी ही नहीं। हमें तो वे ही ज्ञान चाहिए जिनका हमें प्रयोजन है और जिनकी उपयोगिता प्रत्यक्ष है।

प्रत्युत्तर में यह कहा जाता है कि उपयोगिता की ऐसी कठोर माँग से विश्व के ज्ञान-भांडार का विकास बंद हो जायगा। यदि तात्कालिक आवश्यकता को ही सारा महत्त्व दे दिया जाय, तो शुद्ध ज्ञान की वृद्धि अवश्य रुक जायगी। यह ठीक है कि ज्ञान-वाटिका है

अनेक प्रसून प्रयोजन के पेड़ में प्रस्कृति हुए हैं, तथापि अनेकानेक अनमोल रत्न उत्सुकता की भूमि से भी निपटते हैं। मध्ययुगों में अनेक साहसी वीरों ने केवल अपनी इस उत्सुकता के कारण कि 'विशाल सागर के उस पार क्या है,' अपनी जान जोखिम में डाल दी और उस अपरिचित समुद्र में निकल पड़े—बिना किसी कम्पास के, बिना किसी लोहे के जहाज के। परिणाम यह हुआ कि अनेक नए-नए द्वीपों का उन्होंने पता लगा लिया। एवरेस्ट की चोटी पर पहुँचने के लिए तेनजिंग के पहले कितनों ने कोशिश की और उसीमें अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। कौन-सी जरूरत पड़ी थी इन जान देनेवालों को ? जिस ज्ञान-भंडार पर आज दुनिया को नाज है वह केवल उपयोगिता और प्रयोजन का परिणाम नहीं। अतः केवल प्रोजेक्टों पर ही शिक्षा को आश्रित करना ठीक नहीं है। केवल इसी के सहारे किसी भी विषय का व्यवस्थित ज्ञान नहीं दिया जा सकता। सर गॉडफ्रे टौमसन का मत है कि निम्न वर्गों की शिक्षा में यह प्रणाली अवश्य उपयोगी है, पर ऊपर की श्रेणियों में इस प्रणाली के साथ-साथ अन्य प्रणालियों का उपयोग करना आवश्यक है ताकि भिन्न-भिन्न विषयों का सर्वांगीण ज्ञान बच्चों को दिया जा सके। इस प्रणाली का इतना उपकार अवश्य मान्य है कि इसने शिक्षण-प्रणाली को अधिक-से-अधिक मात्रा में जीवन-केन्द्रित बनाने की ओर शिक्षकों का ध्यान आकर्षित किया है और यह बताया है कि शिक्षण-प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों की दृष्टि लक्ष्य (प्रोजेक्ट) से हटनी नहीं चाहिए। दुर्भाग्य से पुरानी प्रणालियों में होता यह है कि बालक शिक्षकों की बातों को सुनता जाता है अथवा किसी पाठ को पढ़ता जाता है, पर उसे पता नहीं होता कि उसके प्रयासों का लक्ष्य क्या है, अथवा कौन सी उपयोगी वस्तु उसकी कार्य-समाप्ति पर उपलब्ध होगी।

इस प्रणाली के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि यह मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर बहुत-कुछ आश्रित है। बाल-प्रकृति स्वभाव से क्रियाशील होती है। इस क्रियाशीलता का उपयोग यह

प्रोजेक्ट-प्रणाली, अधिक-से-अधिक मात्रा में, करती है। 'क्रियाशीलता द्वारा शिक्षा' (Learning by doing) के सिद्धान्त को इस प्रणाली ने पर्याप्त प्रश्रय प्रदान किया है।

प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली का मूल्यांकन करते हुए रेमॉन्ट ने कहा है कि शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रणाली ने बड़ी सेवा यह बताकर की है कि स्कूल के साधारण से साधारण पाठों में भी विद्यार्थी की अधिक-से-अधिक लगन और उत्साह उत्पन्न करना चाहिए और सबसे बड़ी कुसेवा इस प्रणाली ने यह बता कर की है कि वास्तविक जीवन में व्यक्तों के क्रिया-कलाप की नकल पर आधारित शिक्षण-प्रणाली विद्यालय के जीवन की सारी खराबियों के लिए रामबाण है। *

जो भी हो, प्रयोजनवादी पठन-पाठन की अपेक्षा क्रियाशीलता को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। राइबर्न ने भी इसका समर्थन यह कह कर किया है कि सबसे सच्चा और सर्वोत्तम शिक्षक हमारा अपना अनुभव ही है और वह ऐसा है जिसकी शिक्षा को हम कभी भी नहीं भूलते।† यह प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली बालकों को वास्तविक परिस्थितियों में रख देती है ताकि वे उनके संघर्ष में आकर उसकी समस्याओं को समझने और सुलझाने की चेष्टा करें। अन्य प्रणालियों की तरह यह प्रणाली बालकों को बनावटी वातावरण में रखकर और उन्हें प्रायः निष्क्रिय बनाकर शिक्षा नहीं देती है। केवल पुस्तकीय शिक्षा-प्राप्त

* "The best service, which the project method can render to education, is to suggest that whole-hearted purpose on the part of the pupil should in the greatest possible degree infuse the most ordinary of school lessons. The worst service it can render is to generate the notion that a certain type of procedure, imitative of adult activities in real life, is likely to prove a panacea for all the ills of school life."

† "Experience is the truest and best master, and one, too, whose lessons we never forget"

युवक जब जीवन की वास्तविक रगड़ में आता है तो उसकी कलाई खुल जाती है और पद-पद पर उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं।

प्रकृतिवादी अनुशासन का स्वरूप हम देख चुके हैं। जिस मानी में हम अनुशासन शब्द का प्रयोग करते हैं वह वस्तु वहाँ है ही नहीं।

यदि कोई अनुशासन है तो वह प्राकृतिक।

अनुशासन

उसका स्वरूप भी हम देख चुके हैं। सच तो

यह है कि प्रकृतिवादी शिक्षण-प्रणाली में अनुशासन को कोई स्थान नहीं दिया गया है। वहाँ है स्वतंत्रता का बुलन्द नारा—सर्वत्र और सदैव। प्रकृतिवादी इसे सीमित करना नहीं चाहते, चाहे यह स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, स्वेच्छाचारिता अथवा अराजकता में ही क्यों न उतर जाय। प्रकृतिवादियों को तो शिक्षक पर ही शक है, भय है कि कहीं वह बालकों की राह में टाँग न अड़ा दे। प्रत्यक्ष अनुशासन तो बहुत दूर की चीज है।

प्रयोजनवादी शिक्षण-पद्धति में अनुशासन का स्थान है, पर यह बाहर से लादने की वस्तु नहीं समझी जाती है। आदि से अन्त तक व्यावहारिक होने के नाते इसका अनुशासन भी प्रयोजनवाद के मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल माना गया है। विश्वास यह किया जाता है कि ऊपर से अनुशासन लादने का परिणाम यह होता है कि अनुशासित व्यक्ति में प्रतिक्रिया की भावना उत्पन्न हो जाती है। इससे अनुशासन का वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। सुन्दर अनुशासन वह होता है जो स्वतः अनुशासन के तत्त्वों को उत्पन्न कर दे। ऐसा आत्म-अनुशासन क्रिया-प्रसूत हुआ करता है। प्रोजेक्ट शिक्षण-प्रणाली से पढ़ाने पर अवस्था यह होती है कि बच्चे अपनी-अपनी योजनाओं की पूर्ति में इस तरह संलग्न हो जाते हैं, उनकी कार्य-तन्मयता इस सीमा को पहुँच जाती है कि बच्चों को विषयान्तरित होने और अभद्र तथा अनुचित कार्यों के करने का अवकाश ही नहीं रहता। यही नहीं, बच्चों की कार्य-तन्मयता उनमें अनेक अच्छे-अच्छे गुणों को उत्पन्न कर देती है। दिए हुए काम को मुस्तैदी से करना, नियत समय में दिए

हुए काम को पूरा करने की भावना से प्रेरित होना, मिल-जुल कर काम करने का अभ्यास डालना, यथाशक्ति कार्य को सुन्दर-से-सुन्दर ढंग से सम्पादित करना तथा दिए हुए काम में पूरी तन्मयता से लग जाना इत्यादि सुन्दर गुण बालक अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। प्रयोजन-वादियों का विश्वास है कि जहाँ डंडे फेल हो जाते हैं वहाँ प्रोजेक्ट काम कर जाता है। दहृत मानी में उनका यह विश्वास ठीक भी है।

मुश्किल तब पड़ जाती है जब प्रयोजनवादी यह कहने लगते हैं कि 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' जिन्हें युग-युग से सामाजिक मान्यता प्राप्त है, वे व्यावहारिक जगत में कोई अर्थ नहीं रखते। इन आदर्शों और मूल्यों का कोई सनातन रूप नहीं। बच्चे स्वयं उनका स्वरूप फिर से निर्धारित करेंगे। दूसरी ओर आदर्शवादी यह कहते हैं कि हमारे बीच ऐसे अनेक नैतिक सिद्धान्त तथा आदर्श वर्तमान हैं जिनका महत्त्व और जिनकी सत्यता सनातन है तथा जो काल और स्थान से परे हैं। चूँकि वे नैसर्गिक मूल्य अथवा मान्यताएँ सब काल और सभी स्थानों के लिए सत्य हैं, इसलिए उनका बच्चों के समक्ष रखा जाना उचित ही नहीं आवश्यक भी है। यह बात और है कि बच्चों को उन आदर्शों पर चलने के लिए शिक्षक बल का प्रयोग न करे।

अध्याय १३

यथार्थवाद और व्यावसायिक शिक्षा का प्रश्न

(Realism and the Question of Vocational
Education)

“The education of the future will, in the case of every child over a certain age, combine productive labour with education and athletics not merely as one of the methods of raising social production but as the only method of producing fully developed human beings.”

—*Karl Marx.*

“No one should be obliged to choose between an education without a vocation and a vocation without an education.”

“There can be no adequate technical education which is not liberal in the first instance, and no liberal education which is not technical or vocational.”

—*A. N. Whitehead.*

“The education given in our schools is isolated from life.”

—*The Mudaliar Report (1952)*

कोई भी चीज जब हृद से गुजरती है तो वह एक प्रतिक्रिया को जन्म दे देती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी यही अवस्था होती है। जब शिक्षा में कृत्रिमता आई, शिक्षण-प्रणाली शिक्षा में यथार्थवाद कृत्रिम बनी, पाठ्यक्रम अव्यावहारिक हुआ और शैक्षिक वातावरण जीवन की वास्तविकता से दूर जा पड़ा, तब यह पुकार चारों ओर से आरम्भ हुई कि शिक्षा और जीवन की वास्तविकता के बीच जो खाई है उसे पाट दो। अव्यावहारिक ज्ञान की गठरी हमें नहीं चाहिए। कोरे शब्द-जाल से, कोरे पुस्तकीय ज्ञान से हमारा कल्याण नहीं। पुकार होती है कि शब्दों के स्थान में वस्तुओं (Things rather than words) से काम लो।

यह पुकार अपनी जगह पर किसी मानी में ठीक भी है, पर इसमें भी अति नहीं करनी चाहिए। शब्द भी आवश्यक वस्तु हैं। इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। जो लोग इनके पूर्ण परित्याग का समर्थन करते हैं वे भी कम भ्रम में नहीं होते। शब्द न केवल वस्तुओं के, प्रत्युत हमारी भावनाओं के भी प्रतीक हुआ करते हैं। शिक्षा के विलकुल प्रारंभिक स्तर पर हम स्थूल वस्तुओं से भले ही काम ले लें, पर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा शब्दों के बिना एक दिन नहीं चल सकती। जिस प्रकार व्यावहारिकता के बिना हमारी शिक्षा असत्य और अनुपयोगी हो जाती है, उसी प्रकार शब्दों के बिना ऊपरी स्तर की शिक्षा लँगड़ी हो जायगी। वस्तुओं की इकाई से उठकर जहाँ हम समुदाय अथवा गुण की कल्पना करने लग जाते हैं वहाँ हमें शब्दों का दामन पकड़ना पड़ता है। शब्दों के अभाव में मानसिक विकास असंभव है। अतः जो शब्दों को असत्य अथवा अनावश्यक समझते हैं और केवल वस्तु तथा व्यावहारिक क्रियाओं का ही ढोल पीटते हैं उन्हें ये बातें ध्यान में रखनी हैं।

एक ओर यदि ये बातें ठीक हैं, तो दूसरी ओर यह भी उतना ही ठीक है कि केवल शब्द-जाल से हमारा ज्ञान अयथार्थ तथा असत्य हो जाता है। हम भूलवश समझ बैठते हैं कि ज्ञान के द्वार केवल

आँख और कान हैं। हमारे हाथ-पैर भी हमारे ज्ञान-वर्द्धन में प्रायः उतने ही सहायक हो सकते हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उनसे उत्पन्न ज्ञान ही अधिक यथार्थ, व्यावहारिक तथा जीवनोपयोगी हुआ करता है। शब्दों के साथ ही स्थूल वस्तुओं तथा व्यावहारिक क्रियाओं को भी किसी यथार्थ पाठ्य-क्रम में स्थान मिलना चाहिए। वास्तव में आवश्यकता है शब्द, वस्तु तथा क्रियाओं के उचित संतुलन की; नकि शब्दों से सम्बन्ध-विच्छेद की। तभी हम अपनी शिक्षा में यथार्थवाद ला सकेंगे; तभी हमारे भावी जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी; तभी हमारी शिक्षा परम्परागत मानसिक जगत से उठकर प्रगतिशील तथा वास्तविक जीवन को स्पर्श करनेवाली बन सकेगी।

स्पष्ट है कि प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति महत्त्व रखता है। प्रत्येक से यह आशा की जाती है कि वह आदान-प्रदान की नीति पर समाज के अन्तर्गत रहे। हमें यदि औरों की बनाई अथवा उत्पन्न की हुई वस्तु की आवश्यकता है, तो हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम अपनी बनाई अथवा उत्पन्न की हुई वस्तु समाज को दें। राष्ट्र सम्पत्तिशाली यूँ ही नहीं हो जाता। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि किसी-न-किसी रूप में सम्पत्ति-निर्माण में वह योगदान दे। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति सम्पत्ति-भोक्ता तथा सम्पत्ति-निर्माता समझा जाता है।

यदि यह सिद्धान्त प्रजातंत्र का मूलभूत तत्त्व है, तो ऐसे राज्य में राष्ट्र का कोई भी स्कूल, विशेष कर माध्यमिक विद्यालय, व्यावसायिक शिक्षा से अन्यमनस्क नहीं हो सकता। राष्ट्र को यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योग, शिल्प तथा व्यवसायों की आवश्यकता है, तो इनकी अनिवार्य शिक्षा आवश्यक तथा उचित कही जायगी।

मुदालियर रिपोर्ट ने यह प्रतिपादित किया है कि अपने विद्यार्थियों की औद्योगिक तथा व्यावसायिक योग्यता की वृद्धि पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। काम चाहे जितने भी छोटे क्यों न हों, उनके

प्रति न केवल एक नया दृष्टिबिन्दु उत्पन्न करने भर की यह बात है; प्रत्युत इसका अर्थ इस बात का भी अभिज्ञान है कि निजी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा संभावनाओं की प्राप्ति और राष्ट्रीय समुन्नति कर्म के ही द्वारा संभव है, जिसमें हर किसी को भाग लेना है। इस नए दृष्टिबिन्दु को इसकी भी अपेक्षा है कि शिक्षित व्यक्ति यदि किसी काम को हाथ में लेंगे तो वे इसे अपनी योग्यता भर दक्षता तथा सुन्दरता से सम्पादित करेंगे। प्रत्येक शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि इस दृष्टिबिन्दु को उत्पन्न करे और स्कूल के प्रत्येक कार्य में यह प्रतिबिम्बित होना चाहिए। * भारत एक प्रजातंत्र है और उसकी मौलिक आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से ही मुदालियर कमीशन (आयोग) ने ये प्रस्ताव रखे हैं। सच तो यह है कि प्रजातंत्र हो या राजतंत्र, राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति तभी होती है जब सम्पत्ति-उत्पादन में सभी क्रियाशील होते हैं। भारत के आज के दुर्भाग्य तथा दुरवस्था का मुख्य कारण यही है कि परिवार का एक-आध आदमी उपार्जन करता है और बाकी बैठकर उसकी कमाई खाते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि हमारा आर्थिक पतन हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं। यह बात स्मरण रखने की है कि नैतिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक पतनों के मूल में यह आर्थिक पतन ही अधिकांश में हुआ करता है। भारत धनी है, भारतीय दरिद्र। प्रचुरता के प्रांगण में निर्धनता घोर विडंबना नहीं तो क्या है !

*“We must concentrate on increasing the productive or technical and vocational efficiency of our student. This is not merely a matter of creating a new attitude to work—an attitude that implies an appreciation of the dignity of all work, however lowly, a realisation that self-fulfilment and national prosperity are only possible through work in which every one must participate and a conviction that when our educated men take any piece of work in hand they will try to complete it as efficiently and artistically as their powers permit. The creation of this attitude must be the function of every teacher and it must find expression in every activity of the school.”

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से हमें यह पता चलता है कि जिस व्यक्ति को निजी आर्थिक क्षमता नहीं होती अथवा जिसे जीवन-यापन के लिए औरों का मुँह जोहना पड़ता है उसका नैतिक व्यावसायिक शिक्षा का महत्त्व पतन शीघ्र हो जाया करता है। धीरे-धीरे उसमें आत्म-क्षुद्रता या लघुता (inferiority complex) के भाव का प्रादुर्भाव होता है। जो शिक्षा हमारे वास्तविक दैनिक जीवन की मौलिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, जिस शिक्षा को हम लगातार दश वर्षों तक देकर भी अपने विद्यार्थियों को भवसागर में पतवार-विहीन नौका की तरह आकस्मिक घटनाओं के थपेड़े खाने को छोड़ देते हैं वह शिक्षा निश्चय ही निस्मार तथा निकम्मी है। वर्षों तक तपस्या करने के बाद भी जो शिक्षा हमारा पेट नहीं भर सकती वह अवश्य ही हमारे काम की नहीं।

व्यावसायिक शिक्षा का महत्त्व इसी में है कि वह हमारी इस अक्षमता को दूर करने में सहायता प्रदान करती है। इसे प्राप्त कर हम जीवन की उद्देश्यहीनता को दूर करते हैं। इसीसे हमारा जीवन सार्थक तथा सुखमय बनता है। हम आत्म-विश्वास के साथ जीवन-पथ पर अग्रसर होते हैं और आत्म-निर्भरता प्राप्त करते हैं।

मुदालियर आयोग की दृष्टि में औद्योगिक शिक्षा एक स्वाभाविक शिक्षा है जिसमें प्रत्येक बालक या बालिका किसी न किसी मात्रा में भाग ले सकती है। यह शिक्षा लड़के को अपनी क्षमताओं और प्रवृत्तियों के माप में सहायक हो सकती है जो अन्त में उसे अपने जीवन के पेशे को चुनने में सहायता प्रदान कर सकती है। यदि वह कोई औद्योगिक पेशा अपने लिए न बनाना चाहे तो भी यंत्रों के सीखे हुए व्यवहार से आत्माभिव्यंजना के द्वारा उसे बहुत संतोष होगा और आगे के जीवन में एक लाभप्रद 'स्वान्तः सुखाय' कर्म (hobby) करने में सहायता मिल सकेगी। सुन्दर ढाँचे तथा शिल्प की उसे पहचान होगी, काम करने की अच्छी आदत के प्रति उसे श्रद्धा बढ़ेगी तथा

तथा व्यावहारिक पूर्ति होगी और वे औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश कर सामान्य दक्षता के स्तर को ऊँचा करेंगे। इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि होगी और अन्त में जीवन का सामान्य स्तर भी उन्नत होगा।*

उदार शिक्षा की रूप-रेखा हम पिछले पृष्ठों में देख आए हैं। कुछ लोग इसमें और व्यावसायिक शिक्षा में स्वाभाविक विरोध समझते

उदार शिक्षा तथा
व्यावसायिक शिक्षा

हैं, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हम देख चुके हैं कि मध्यकालीन युगों में उदार शिक्षा का अर्थ लोग चन्द विषयों के पुस्तकीय ज्ञान

से लगाते थे और यह धारणा होती थी कि ऐसे ज्ञान से मुक्त पुरुष में एक सर्वतोमुखी क्षमता उत्पन्न हो जाती है जिससे जीवनोपयोगी सारे कर्मों को वह सुगमता से कर सकता है। यह धारणा सम्भवतः उस काल के लिए ठीक थी भी, क्योंकि उन दिनों औद्योगिक क्रान्ति हुई नहीं थी। जो भी उद्योग थे वे गृह-उद्योग थे। उनके लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं थी। पिता के साथ रहकर अथवा व्यावसायिक लोगों के बीच काम में सम्मिलित होकर बच्चे आवश्यक दक्षता अनायास प्राप्त कर लिया करते थे। यही कारण था कि उन दिनों उदार शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा समझी जाती थी। पर

* "With this object in view we have recommended that there should be much greater emphasis on crafts and productive work in all schools and, in addition, diversification of courses should be introduced at the secondary stage so that a large number of students may take up agricultural, technical, commercial or other practical courses which will train their varied aptitudes and enable them either to take up vocational pursuits at the end of the secondary course or to join technical institutions for further training. These measures will, we hope, result in equipping educated young men psychologically and practically—to undertake technical lines and raise general standards of efficiency, thereby helping to increase national wealth and ultimately to improve the general standards of living."

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यंत्रों के सहारे किए जानेवाले उद्योग उत्तरोत्तर इतने पेचीले पड़ते गए कि उन्हें दक्षता और सफलता-पूर्वक संचालन करने के लिए दीर्घकालीन विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता पड़ गई ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे-जैसे उद्योगों का यांत्रीकरण होता गया, उदार शिक्षा उसी अनुपात में निष्फल प्रतीत होने लगी और विशिष्ट व्यावसायिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभूत होने लगी । जैसे-जैसे व्यावसायिक शिक्षा स्कूलों में प्रवेश करती गई वैसे-वैसे उदार शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के बीच की खाई गहरी होती गई ।

जब दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दो समानान्तर रेखाओं की तरह अग्रसर हुईं तो कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों प्रकार की शिक्षाओं के बीच स्वाभाविक विरोध है । पर यह धारणा उत्तरोत्तर निर्मूल सिद्ध होने लगी । उन्हें पता चला कि दोनों एक दूसरे की पूरक हैं । व्यावसायिक शिक्षा के अभाव में उदार शिक्षा खोखली है और उदार शिक्षा के अभाव में व्यावसायिक शिक्षा पंगु । पहले लोगों का खयाल था कि सामान्य या उदार शिक्षा के बिना भी व्यावसायिक शिक्षा चल सकती है, पीछे मिल-मालिकों तथा संचालकों ने यह कहना शुरू किया कि औद्योगिक शिक्षा युवकों को हम आप दे लेंगे । हमें सामान्य शिक्षाप्राप्त व्यक्ति चाहिए । जो युवक सामान्य या उदार शिक्षा पर्याप्त मात्रा में नहीं पाये हुए हैं वे व्यवसाय संचालन में अथवा उद्योगों को अच्छी तरह चलाने में सफल नहीं हुआ करते । अब यह अनुभूति होने लगी कि उदार शिक्षा को व्यावसायिक होना चाहिए और व्यावसायिक शिक्षा को उदार । इस प्रकार दोनों के उचित संतुलन का प्रश्न सामने आया । परिणामस्वरूप उदार शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा दोनों अपनी-अपनी पहली परिभाषा खो बैठीं ।

वर्तमान शिक्षा-शास्त्रियों का यह मत है कि व्यावसायिक शिक्षा हमें न केवल औद्योगिक या व्यावसायिक दक्षता प्रदान करती है, प्रत्युत हमारा मानसिक और नैतिक विकास भी किसी भी अन्य शिक्षा-योजना से कम नहीं करती । धीरे-धीरे यह विश्वास जमता जा रहा है कि

कर्म-जन्य ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यही व्यावहारिक तथा टिकाऊ हुआ करता है। केवल पुस्तक-सुलभ ज्ञान न व्यावहारिक होता है और न जीवनोपयोगी।

ऊपर की दलीलों से यह साफ हो गया होगा कि आजकल उदार शिक्षा क्यों व्यावसायिक बनती जा रही है और व्यावसायिक शिक्षा उत्तरोत्तर उदार। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री ह्वाइटहेड का कथन है कि सफल तथा पर्याप्त व्यावसायिक शिक्षा को प्रारंभिक स्तरों पर उदार शिक्षा की अपेक्षा है और उदार शिक्षा भी औद्योगिक शिक्षा के अभाव में अपूर्ण ही है।

दोनों की पारस्परिक निर्भरता को अमेरिका के मेडिकल एडुकेशन की रिपोर्ट में बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है। यदि व्यक्ति (रोगी) को परमावश्यक परामर्श की आवश्यकता है तो चिकित्सक के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि उसे उस व्यक्ति तथा उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करनेवाली तमाम सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का अभिज्ञान हो। * इस बात की अनुभूति अब उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है कि डॉक्टरों को मनो-विज्ञान का गहरा ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि हाल के वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पता चला है कि रोगों का मानसिक अवस्था से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक तथा मानसिक पार्थक्य अब भ्रमपूर्ण बताया जा रहा है।

यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि व्यावसायिक शिक्षा की पक्की नींव उदार शिक्षा की आधार-शिला पर ही खड़ी की जा सकती है। प्राथमिक स्तर पर किसी विशेष व्यावसायिक व्यावसायिक शिक्षा कब शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं। बालकों में क्रियाशीलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसलिए उस स्तर पर सारा ज्ञानोपार्जन विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से होना ही चाहिए।

* "If the individual is to obtain the most helpful counsel, it is important that the physician be acquainted with the social, economic and other environmental facts which have an influence on the individual and his health."

हो सकता है कि इन क्रियाओं के व्यक्त रूप पर एक हलका औद्योगिक तथा व्यावसायिक रंग चढ़ा हो। स्वतंत्र व्यावसायिक अथवा औद्योगिक शिक्षा इस स्तर पर संभवतः हानिकारक है, क्योंकि वह प्रारंभिक ठोस सामान्य शिक्षा को पृष्ठभूमि में कर देगी। इससे न केवल परमावश्यक सामान्य शिक्षा की हानि होगी, प्रत्युत स्वयं औद्योगिक शिक्षा की भी, क्योंकि जैसा हम ऊपर कह आये हैं, ठोस औद्योगिक शिक्षा ठोस सामान्य शिक्षा के अभाव में सफलतापूर्वक दी ही नहीं जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राथमिक शिक्षा (Primary education) के स्तर पर व्यावसायिक तथा उदार शिक्षा में कोई संघर्ष नहीं।

उच्च शिक्षा (University education) के स्तर पर भी दोनों में संघर्ष की संभावना नहीं। माध्यमिक शिक्षा के बाद विद्यार्थी अपने भावी जीवन के मुख्य व्यवसाय की रूपरेखा देखना आरम्भ कर देते हैं और तदनुकूल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे एक निश्चय पर आ गये होते हैं। परिणाम यह होता है कि उस समय उदार तथा औद्योगिक शिक्षाओं के सम्बन्ध में प्रश्न रहता है यह अथवा वह का, न कि यह और वह का।

वस्तुतः विवाद का केन्द्र है माध्यमिक शिक्षा का स्तर। इसीके सम्बन्ध में विभिन्न शिक्षा-शास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। कुछ की राय है कि माध्यमिक शिक्षा के प्रारम्भ से ही औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा दी जानी चाहिए। यह प्रश्न उतना स्पष्ट और सरल नहीं है जितना कि यह ऊपरी स्तर पर दीखता है। माध्यमिक शिक्षा के प्रारम्भ होने की आयु भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। कुछ देशों में यह शिक्षा ग्यारह साल की उम्र के बाद शुरू हो जाती है, कुछ में बारह के बाद और कुछ में तेरह के बाद भी। अपने देश में अभी यह क्या है, ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। आठवें या नवें वर्ग में ग्यारह-बारह साल के बच्चों से लेकर सत्रह-अठारह साल तक के बच्चे हुआ करते हैं। इसलिए, वर्तमान परिस्थिति में शिक्षा-सम्बन्धी समस्त प्रश्नों के अध्ययन में हमें बच्चों की आयु को दृष्टिकोण में रख कर सोचना नहीं पड़ता; सोचना पड़ता है उनके वर्ग को दृष्टिकोण में रख कर।

स्पष्टतः यह एक अमनोवैज्ञानिक अध्ययन बन जाता है। व्यक्ति की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं आयु के अनुसार, न कि प्राप्त वर्ग के अनुसार। फलतः वर्तमान अमनोवैज्ञानिक शैक्षिक प्रक्रिया तब तक अपने देश में बनी रहेगी जब तक प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य नहीं कर दी जाती।

औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा के आरम्भ में कुछ विद्वानों की राय यह भी है कि चार साल की माध्यमिक शिक्षा के अन्तिम दो साल की अवधि में ही यह शिक्षा उदार शिक्षा के साथ-साथ दी जाय। इन विद्वानों का यह विश्वास है कि बालकों में विशिष्ट प्रवृत्तियाँ जगती हैं प्रायः तेरह साल की उम्र में, न कि ग्यारह साल की उम्र के ठीक बाद ही। यही कारण है कि वे माध्यमिक शिक्षा के अन्तिम दो वर्षों के भीतर ही औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था करना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि इस उम्र के पहले किसी विशेष प्रकार की औद्योगिक शिक्षा का चुनाव बच्चे ठीक-ठीक नहीं कर सकते। उन्हें अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का स्वयं पूरा पता नहीं रहा करता। परिणाम यह होता है कि ग्यारह साल की उम्र के बाद ही किया गया चुनाव आगे चल कर गलत साबित हो सकता है और गलत औद्योगिक शिक्षा तथा तदनुकूल व्यवसाय को पकड़ लेने के कारण अनेकों का जीवन असफल एवं दुःखमय बन जा सकता है। एक बार, गलत या सही, जीवन के किसी मुख्य व्यवसाय को ग्रहण कर लेने के बाद और जीवन के चक्कर में अच्छी तरह पड़ जाने के बाद, व्यवसाय-परिवर्तन एक प्रकार से असंभव हो जाया करता है। उस समय केवल असफलता, निराशा तथा पश्चात्ताप ही हाथ आते हैं। इन्हीं बातों को दृष्टिकोण में रख कर इन विद्वानों का कथन है कि विशेष व्यावसायिक शिक्षा का चुनाव तेरह साल की उम्र के पहले नहीं होना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा की अवधि कुछ कम हो तो हो, पर चुनाव गलत न होने पावे।

इस सम्बन्ध की एक और संभावना भी हमारे सामने आती है। क्या यह भी प्रश्न उठ सकता है कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा दी ही नहीं जाय ? यदि विशिष्ट प्रवृत्तियों के प्रस्फुटित होने की उम्र के सम्बन्ध में इतनी विचार-विभिन्नता तथा विवादपूर्णता है तो क्यों नहीं माध्यमिक शिक्षा के बाद ही इस शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक स्तर पर इसकी व्यवस्था हो ही जानी चाहिए। यदि विश्वविद्यालय के स्तर तक की शिक्षा सब किसी के लिए अनिवार्य बना दी जाती, तो संभवतः औद्योगिक शिक्षा का प्रश्न माध्यमिक स्तर के बाद तक टाला जा सकता था। प्रथम तो कोई भी राज्य, कितना ही सम्पत्ति-सम्पन्न वह क्यों न हो, राष्ट्र के प्रत्येक बच्चे के लिए विश्वविद्यालय की शिक्षा अनिवार्य नहीं कर सकता। राज्य की सारी आय शिक्षा-विभाग में खर्च हो जायगी, जो किसी भी राज्य के लिए संभव नहीं है। दूसरे, राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्तियों तथा मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से उच्च शिक्षा का अधिकारी भी नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को विश्वविद्यालय में भेजना राष्ट्र का और उसका भी नुकसान करना है। व्यावहारिकता तथा यथार्थता की दृष्टि से भी यह प्रयत्न अनुपयुक्त ही कहा जायगा। राज्य की आर्थिक असमर्थता तथा व्यक्ति की मानसिक अक्षमता की बातें यदि दूर भी कर दी जायँ, तो भी परिस्थिति की वास्तविकता यही बताती है कि माध्यमिक विद्यालयों की बहुत कम प्रतिशत संख्या विश्वविद्यालयों में जा पाती है। प्रायः सत्तर-अस्सी प्रतिशत विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के बाद ही जीवन में प्रवेश करते हैं, चाहिए भी यही। ऐसी हालत में केवल उदार तथा सामान्य शिक्षा देकर नवयुवकों को समाज में भेज देना कभी भी उचित नहीं होगा, क्योंकि औद्योगिक अथवा व्यावसायिक क्षमता के अभाव में हमारे नवयुवक केवल नौकरी की ही तलाश में पड़ जायँगे और परिणामस्वरूप देश में बेकारों की संख्या बढ़ जायगी। समाज में अथवा जीवन में प्रवेश करने के पहले हमें तो

उन्हें चतुर भोक्ता और चतुर उत्पादक भी बना देना चाहिए, तभी देश, समाज तथा व्यक्ति का कल्याण संभव है, अन्यथा नहीं।

माध्यमिक स्तर पर औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा कितनी दी जाय, यह प्रश्न भी कम विवादग्रस्त नहीं है। भिन्न-भिन्न शिक्षा-

व्यावसायिक
शिक्षा की मात्रा

शास्त्रियों की राय भिन्न-भिन्न है। कुछ का मत है कि व्यावसायिक शिक्षा इस परिमाण में दी जानी चाहिए कि माध्यमिक शिक्षालयों

से निकल कर हमारे नवयुवक जीवन में प्रवेश करते ही सफल व्यावसायिक जीवन आरंभ कर सकें, नहीं तो फिर वही बेकारी का सवाल सामने आ जायगा, जिसके दूर करने के लिए हम आज सारी माध्यमिक शिक्षा का दृष्टिकोण ही बदलना चाहते हैं। चारों तरफ से आज जो यह पुकार हो रही है कि हमारी माध्यमिक शिक्षा कोरी पुस्तकीय शिक्षा बन गई है अथवा हमारे वास्तविक जीवन को यह स्पर्श नहीं करती है और फलस्वरूप नवयुवक सफल नागरिक बन कर समाज में खप नहीं पाते हैं, इसका एकमात्र अभिप्राय यह है कि हमारे विद्यालयों में सफल तथा स्वतन्त्र जीवन के लिए उचित तैयारी नहीं हो पाती। माध्यमिक शिक्षा के वर्तमान कर्त्तक को यदि वास्तव में धो देना है तो व्यावसायिक शिक्षा की मात्रा को इस सीमा तक अवश्य बढ़ाना पड़ेगा जिसमें सफल नागरिकों की श्रेणी में स्थान प्राप्त करने में हमारे विद्यार्थियों को कोई कठिनाई न हो।

कुछ विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि माध्यमिक स्तर पर तो उदार अथवा सामान्य शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा का एक छींटा भर ही होना चाहिए। इस स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा की अधिक मात्रा का प्रश्न सामान्य शिक्षा का गला ही घोट देगा। जब यह बात निर्विवाद है कि सफल व्यावसायिक जीवन का भवन ठोस सामान्य शिक्षा की नींव पर ही खड़ा हो सकता है, तब इस स्तर पर अधिक मात्रा का प्रश्न घातक सिद्ध होगा ही। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस स्तर पर केवल अल्प व्यावसायिक

शिक्षा दी जाय और जो नवयुवक जीवन के एक-न-एक व्यवसाय में यथासंभव शीघ्र प्रवेश करना चाहें तो वे एक-दो साल के लिए अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल किसी औद्योगिक स्कूल (technical school) में चले जायें और तब जीवन में प्रवेश करें। इससे सामान्य शिक्षा का अवसर भी अक्षुण्ण बना रहूँ जायगा और व्यावसायिक शिक्षा भी ठोस तथा यथेष्ट मात्रा में दी जा सकेगी।

उपयुक्त परामर्श के विरुद्ध यह दलील पेश की जाती है कि जब माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर उपयुक्त व्यावसायिक शिक्षा का सुभाव रखा जाता है, तब उसका यह अभिप्राय नहीं होता कि इस स्तर पर सामान्य शिक्षा रोक रखी जाय। दूसरे, यह धारणा भी भ्रमग्न्य नहीं कि व्यक्तित्व का विकास केवल सामान्य शिक्षा से ही संभव है। कृषि की शिक्षा देते समय हमारा ध्येय अपने विद्यार्थियों को अशिक्षित किसान बनाना नहीं रहता। यदि हम उस प्रक्रिया के प्रत्येक स्तर पर क्यों, कितना और किसलिए को बताते हुए अपने कार्य में अग्रसर होते हैं तो हमें विभिन्न विज्ञानों के व्यावहारिक पहलुओं का ज्ञान भी परमावश्यक हो जाता है। उस समय रसायन शास्त्र (chemistry), जलवायुशास्त्र (climatology), उद्भिद्-विज्ञान (botany), पौधों के रोग (diseases of the plants) तथा अर्थशास्त्र (economics) आदि का ज्ञान प्राप्त करना हमारे विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य हो जाता है। कौन कह सकता है कि व्यक्तित्व का विकास केवल साहित्य, इतिहास तथा भूगोल आदि विषयों से ही हो सकता है और उपयुक्त विज्ञानों से नहीं। कौन कह सकता है कि सामान्य शिक्षा का ध्येय इन विज्ञानों के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता।

ऊपर की दलीलों के कारण सम्भवतः हमारे सामने एक पेचीला प्रश्न उठ खड़ा होता है। पर, जितना पेचीला वह दीखता है उतना वास्तव में है नहीं। व्यावसायिक शिक्षा की मात्रा की वास्तविक व्यवस्था में उतनी कठिनाई नहीं होती। दोनों का उचित समन्वय सम्भव है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमें अपने मन से यह भ्रम दूर

कर देना चाहिए कि व्यावसायिक शिक्षा सामान्य शिक्षा नहीं कही जा सकती; उससे सामान्य शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता तथा उससे व्यक्तित्व का विकास भी नहीं हो सकता। अपनी पुस्तक 'भविष्य का स्कूल' (School of Future) में सैयदेन ने कहा है कि पूरी शिक्षा एक सामूहिक संयुक्त प्रक्रिया है जो उदार तथा व्यावसायिक दो विरोधपूर्ण विभागों में बँधी नहीं है। शिक्षा मानवीय व्यक्तित्व के विकास से सम्बद्ध है जिसे दोनों (विभाग) अपने-अपने विशेष तथा महत्वपूर्ण ढंग से करते हैं।*

अपने देश के अधिकांश माध्यमिक स्कूल छोटे या बड़े ग्रामों में स्थित हैं। ग्रामों का प्रधान व्यवसाय खेती है। ऐसी परिस्थिति में इन ग्रामों के माध्यमिक स्कूल स्कूलों में कृषि-शिक्षा को एक अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। खेद की बात है कि कुछ इने-गिने ग्राम-विद्यालयों में ही कृषि-शिक्षा दी जाती है। मुदालियर कमीशन ने साफ बतलाया है कि इसके मौलिक महत्व को देखकर हमारा यह प्रस्ताव है कि भारत के सभी राज्यों को चाहिए कि वे ग्राम-स्थित विद्यालयों में कृषि-शिक्षा के अधिक अवसर की व्यवस्था करें ताकि विद्यार्थी इसकी ओर झुकें और इसे अपना व्यवसाय बनावें। आजकल कम ही स्कूल हैं जहाँ कृषि पढ़ाई का एक विषय है। जहाँ है भी वहाँ की शिक्षा इतनी सैद्धान्तिक (पुस्तकीय) तथा अव्यावहारिक है कि उससे कोई लाभप्रद काम नहीं होता। ‡

*"The whole education is an integral process, not split up into two warring camps—the liberal and the vocational; but concerned throughout with the development of human personality to which both these aspects minister, each in its own characteristic and significant manner."

‡"In view of its basic importance, we recommend that all States should provide much greater opportunities for Agricultural Education in rural schools, so that more students may take to it and adopt it as a vocation. At present there are not many schools which have agriculture as a subject of study

कमीशन ने यह भी सुझाव दिया है कि इस कृषि-शिक्षा के साथ-साथ बागबानी (Horticulture) तथा पशु-पालन (Animal husbandry) की शिक्षा भी दी जानी चाहिए । बागबानी में तरह-तरह की साग-सब्जी तथा फूलों को पैदा करने की शिक्षा दी जा सकती है । किस मौसम में कौन-कौन-सी तरकारियाँ उपजाई जाती हैं; उनमें भोजन के कौन-कौन से उपयोगी तत्त्व पाये जाते हैं, उनके पौधों में कौन-कौन से कीड़े लग जाया करते हैं; उनसे बचाने के क्या उपाय हैं; उन पौधों को किन खादों की किस परिमाण में आवश्यकता है; किस मौसम में कौन से फूल लगाये जा सकते हैं—तथा उनके बीज किस प्रकार तैयार किये जा सकते हैं, इत्यादि बातों का ज्ञान बागबानी में विद्यार्थियों को दिया जाना चाहिए । केवल फूल या तरकारी उपजाना कृषि-शिक्षा का ध्येय हरगिज नहीं है । उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न विज्ञानों के आवश्यक तथा व्यावहारिक अंगों का ज्ञान देना भी परमावश्यक है । जब तक हम हर चीज के क्यों, किसलिए, क्या और कितना को स्पष्ट नहीं कर देते तब तक कृषि-शिक्षा का वास्तविक ध्येय पूरा नहीं हो जाता ।

कृषि का काम साल के कुछ ही महीनों चला करता है । अतः कृषकों के सामने कुछ महीने ऐसे हुआ करते हैं जब वे प्रायः बैठे रह जाते हैं । इन खाली महीनों को लाभदायक कामों से भरा जा सकता है । इसलिए, यह कहा गया है कि इन महीनों में पशु-पालन के काम विशेष रूप से किये जा सकते हैं । पशु-पालन में कई प्रकार के कार्य आते हैं; जैसे मुर्गी या बत्तक आदि पालना, मधुमक्खी पालना, गाय-भैंस पालना, भेड़-बकरी पोसना तथा दूध का व्यवसाय करना इत्यादि ।

कृषि-शिक्षा को सफल तथा व्यावहारिक बनाने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक ग्राम-विद्यालय के स्कूल के चारों तरफ अथवा बिल्कुल पास ही काफी जमीन हो, ताकि कृषि की व्यावहारिक शिक्षा उस

and even where it does exist, the instruction given is so theoretical and divorced from practical application that it does not serve any useful purpose."

जमीन में वास्तविक कृषि-कर्म द्वारा दी जा सके। क्लास के कमरों में यदि कृषि-शिक्षा दी गई तो वह बिल्कुल बेकार साबित होगी, जिस तरह आज तक अनेक स्कूलों में होती आई है।

ग्राम के माध्यमिक विद्यालयों में कृषि-शिक्षा के अतिरिक्त तरह-तरह के कुटीर-उद्योग (Cottage industries) की शिक्षा भी दी जा सकती है। कोई जरूरी नहीं कि प्रत्येक माध्यमिक स्कूल में सभी प्रकार के कुटीर-उद्योगों की शिक्षा दी जाय। प्रत्येक विद्यालय में शिक्षा के लिए उन्हीं कुटीर-उद्योगों को चुनना चाहिए, जिनके लिए आवश्यक सामग्रियों की स्थानीय सुविधा हो तथा जिन मालों की खपत निकटवर्त्ती स्थानों में आसानी से हो सके। स्कूलों को यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि कुटीर-उद्योग की उपयोगिता अथवा लाभ स्पष्ट, स्थूल तथा तात्कालिक हो। इस लाभ का एक भाग विद्यार्थियों को भी मिलना चाहिए। अपने हाथों से किये गये उद्योग-कर्मों के उत्पादक स्वरूप को देखकर स्वभावतः विद्यार्थियों के मन में उन कर्मों के प्रति अभिरुचि होगी। यह अभिरुचि उनकी शिक्षा को पुष्ट तथा उनके कर्मों को तत्परतापूर्ण बना देगी।

कुटीर-उद्योग अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

- १—पूत काटना,
- २—कपड़े बुनना,
- ३—गुड़िया बनाना,
- ४—गंजी बुनना,
- ५—मोजे बुनना,
- ६—स्वेटर तथा मऊलर बुनना,
- ७—दरी बुनना,
- ८—कम्बल तथा कानीन बुनना,

९—तसर (सिल्क) के कपड़े बुनना। [आजकल अमेरिका आदि देशों में ऐसे मातृ की अच्छी माँग होने लगी है और यह उद्योग

व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से लाभप्रद हो गया है ।]

- १०—जूते बनाना,
- ११—पर्स (पैसों के रखने की थैली) बनाना; बेल्ट (कमरबन्द) बनाना; चमड़े के बैग अथवा बक्स बनाना,
- १२—मिट्टी के तरह-तरह के सुन्दर वर्तन बनाना,
- १३—खिलौने तथा मूर्तियाँ बनाना,
- १४—पारिवारिक आवश्यकताओं के लिए विभिन्न प्रकार के लकड़ी के सामान बनाना,
- १५—साड़ियों की रंगीन छपाई करना,
- १६—विभिन्न प्रकार की चित्रकारियाँ तथा रंगीन तस्वीरें तैयार करना,
- १७—विभिन्न प्रकार की सिलाई तथा बेल्टों का काम करना,
- १८—मथर के वर्तन तथा मूर्तियाँ बनाना,
- १९—पारिवारिक आवश्यकताओं के लिए विभिन्न प्रकार के लोहे के सामान तैयार करना,
- २०—घड़ी, फाउण्टेन पेन तथा साइकल आदि की मरम्मत करना,
- २१—हारमोनियम आदि वाद्य-यंत्रों को बनाना तथा उनकी मरम्मत करना,
- २२—ग्रामोफोन तथा रेडियो आदि की मरम्मत करना,
- २३—साबुन बनाना,
- २४—जिल्द बाँधना तथा विभिन्न प्रकार की फाइलें बनाना,
- २५—तरह-तरह के भोजन की सामग्री बनाना—पावरोटी, बिसकुट, केक, पेस्ट्री आदि ।

यह स्वयंसिद्ध है कि जीवन के ध्येय से शिक्षा अपने उद्देश्यों का निर्माण किया करती है । यह भी स्वयंसिद्ध है कि जीवन का ध्येय केवल वस्तु-उत्पादन नहीं होता, और न होना ही चाहिए; तथापि यह बात मानने की है कि सामाजिक जीवन के लिए उत्पादन एक आवश्यक क्रिया है । स्वभाव से सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक जीवन से मनुष्य अपने

सामान्य वक्तव्य

को पृथक् नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में स्कूलों का यह फर्ज हो जाता है कि वे बालकों को सामाजिक जीवन के लिए प्रस्तुत करें। हाँ, यह अवश्य देखा जाना चाहिए कि यह कार्य व्यक्ति के विकास में बाधक न बन बैठे।

यह तो स्पष्ट ही है कि हमारे स्कूलों में कतिपय प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को छोड़ अधिकांश विद्यार्थी ऐसे ही हुआ करते हैं, जिनकी स्वाभाविक रुचि रचनात्मक क्रियाओं में अधिक हुआ करती। हिसाब इत्यादि बनाने की क्रिया साधारणतः प्रायः नीरस हुआ करती है। वही किसी उद्योग अथवा कृषि-संचालन में काम पड़ने पर सजीव तथा रुचिकर बन जाती है। इन्हीं कारणों से यह कहा जाता है कि स्थानीय उद्योगों का महत्त्व बहुत बड़ा है; क्योंकि वे स्थूल तथा यथार्थ रूप में बालकों की आँखों के सामने हुआ करते हैं और उन उद्योगों में विद्यार्थियों को दिये जानेवाले विभिन्न विषयों के ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप परिलक्षित हुआ करता है। उपयोगिता के इस स्थूल स्वरूप में स्वभावतः बालकों के लिए वास्तविक आकर्षण होता है।

औद्योगिक शिक्षा की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्कूल बच्चों को स्थानीय उद्योगों के समीप ले जाकर उन्हें दिखाने का प्रबन्ध करे। रूस में यह कार्य प्रायः सभी स्कूलों में किया जाता है। जहाँ अच्छी खेती हो रही है, अन्य उद्योग अच्छे चल रहे हैं, या बड़ी-बड़ी मिलें तथा कारखाने हैं वहाँ साल में पाँच-सात बार बच्चे ले जाये जाते हैं। अपने स्कूलों में किये जानेवाले उद्योगों के वास्तविक स्वरूप को समाज में जाकर और देख कर उन्हें न केवल कार्य की वास्तविकता का अभिज्ञान होता है, प्रत्युत उस उद्योग में उनकी अभिरुचि उत्पन्न होती है, जो उन्हें दक्षता प्राप्त करने में सहायक बन जाती है। विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों के वास्तविक स्वरूप की पृष्ठभूमि में अपने भावी जीवन के लिए किसी व्यवसाय के सही चुनाव में यह सहायक भी सिद्ध होता है। इसलिए, यह स्पष्ट है कि उद्योगों तथा व्यवसायों के बीच बच्चों को ले जाकर उनके

वास्तविक स्वरूप से उन्हें परिचित कराना बहुत महत्वपूर्ण है। औद्योगिक शिक्षा की वर्तमान अव्यावहारिकता को दूर कर उसमें यथार्थता लाने का यह एक सबसे सरल उपाय है। अपने देश में जिन माध्यमिक स्कूलों में औद्योगिक शिक्षा दी जाती है, उन्हें यह कार्य अवश्य करना चाहिए।

इंग्लैंड की शिक्षा की केन्द्रीय परामर्शदायिनी समिति (Central Advisory Council for Education-England-1947) की रिपोर्ट में स्थानीय उद्योगों से परिचय की महत्ता को व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि स्कूल के अन्तिम सालों में यह एक इच्छित ध्येय हो जाता है कि बालकों को बाह्य बृहत् समाज में स्वतन्त्र जीवन के लिए प्रस्तुत किया जाय। उद्योग उस सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग हुआ करता है। स्थानीय उद्योग और कृषि की सम्भावनाओं तथा संचालन के कुछ परिचय से उन्हें अपने जीवन के पेशों को चुनने में सहायता मिलेगी। यह क्रिया स्वयं समाज का अध्ययन होने के कारण मनोहर और प्रकाश डालनेवाली हुआ करती है।*

* "At the same time it is a desirable objective in the later years of school life to prepare boys and girls for independent life in the wider community, of which industry is an important part. Some introduction to the scope and working of local industry and agriculture will help them to choose their employment; it can be made interesting in itself and illuminating as an approach to the study of society."

अध्याय १४

गांधीवाद और बेसिक शिक्षा-प्रणाली

(नई तालीम)

(Gandhism and Basic Education)

“सा विद्या या विमुक्तये ।”

“प्रत्येक स्कूल घर हो, और प्रत्येक घर स्कूल ।”

—संत विनोबा भावे

“ My creed is the service of God and therefore of humanity.”

—*Mahatma Gandhi*

“Intellectual work is important and has an undoubted place in the scheme of life. But what I insist on is the necessity of physical labour. No man, I claim, ought to be free from that obligation. It will serve to improve even the quality of his intellectual output.”

—*Mahatma Gandhi*

“By education I mean an all-round drawing out of the best in child and man—body, mind and spirit.”...

—*Mahatma Gandhi*

"I want the cultures of all lands to be blown about my house as freely as possible. But I refuse to be blown off my feet by any."
—*Mahatma Gandhi*

"Gandhiji's philosophy of education is naturalistic in its setting, idealistic in its aim and pragmatic in its method and programme of work."

—*Dr. M. S. patel.*

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी युग-निर्माता थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। भारतीय जीवन का शायद ही कोई पहलू उनकी ऐतिहासिक अधिकारपूर्ण लेखनी से अछूता रहा हो। पृष्ठभूमि एक ओर यदि वे राजनीति के प्रकांड पंडित के रूप में हमारे समक्ष आते हैं, तो दूसरी ओर अद्वितीय समाज-सुधारक और शिक्षा-शास्त्री के रूप में। जिस विषय पर उन्होंने अपनी लेखनी उठाई उसीमें उन्होंने कुछ ठोस विचार रख दिये, जो उनके गूढ़ चिन्तन और प्रगाढ़ अनुभव के परिचायक हैं। यहाँ पर हम उनके शैक्षिक सिद्धान्तों तथा विचारों पर ही विशेष प्रकाश डालेंगे।

भारतीय शिक्षा की स्थिति को देखकर उनकी आत्मा विद्रोह कर उठी। सच पूछो तो विद्रोह उनकी प्रत्येक साँस में था। अनीति, अनियम, अत्याचार और अनाचार को देखकर नतशिर होनेवाली आत्मा तो साधारण पुरुषों की हुआ करती है। वे एक असाधारण व्यक्ति थे; चुप कैसे बैठते। भारतीय शिक्षा की दुर्गति उनसे देखी नहीं गई।

अब हमें देखना है कि वह दुर्गति थी कैसी। भारत के अंगरेज-शासकों ने जो शिक्षा-प्रणाली इस देश में चलाई थी वह अभारतीय ही नहीं थी, भारत-विरोधी भी थी। अंगरेजों को आवश्यकता थी सस्ते भारतीय कर्मचारियों की। इसलिए, उन्होंने कर्मचारी-उत्पादक शिक्षा-प्रणाली इस देश में जारी कर दी। यह शिक्षा मुट्ठी भर नौकरी पेशेवालों को छोड़ देश, धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा समाज के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध हुई। भारतीय जीवन से इस

शिक्षा का कोई सरोकार न था। भारतीय संस्कृति पर जैसा कुठाराघात इस विदेशी शिक्षा ने किया, शायद ही किसी और ने किया हो !

चारों ओर मातृभाषा का तिरस्कार हो रहा था। चन्द लोग जो पढ़े-लिखे थे वे अँगरेजी का दामन पकड़े हुए थे। साक्षरता पर जोर था। भारतवासियों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ देनी नहीं थीं। भारतीय विद्यार्थी फिर भी विदेशी भाषा पर लट्टू थे और एँड़ी-चोटी एक कर उसे रटने पर तुले थे। पढ़ने को तो वे स्कूलों में और विषय भी पढ़ते थे, पर जीवन की वास्तविकता से उनका कोई सम्पर्क नहीं था। श्री द्वारका सिंह ने इसका एक सुन्दर चित्र खींचा है—‘भूगोल पढ़ते हैं, पर गाँव की आबादी नहीं मालूम; नदी में भरे हुए पानी का उपयोग नहीं किया जाता है। इतिहास की घटनाएँ याद हैं, पर पितामह के पिता का नाम याद नहीं है। गौतम और महावीर की कहानियाँ पढ़ते हैं, पर उन कहानियों का मूल्य विश्वविद्यालय के ३६ के अंक से आँका जाता है, चरित्रविकास से नहीं। गणित के कठिन प्रश्नों के हल मालूम हैं, पर अपने परिवार का हिसाब नहीं मालूम। खाता, खेसरा तथा खेवट ग्रीक और लैटिन हैं। समाज-शास्त्र के विद्वान हैं, पर स्टेशन पर टिकट लेते समय धक्का देना और धक्का खाना कर्त्तव्य में शुमार होता है।’* इसी शिक्षा के सहारे चाँदी के चन्द टुकड़ों को प्राप्त कर भारतीय किरानी बाबू अपने आगे किसी को न लगाते थे। इसी निर्जीव और खोखली शिक्षा की आलोचना करते हुए श्री सिंह आगे चलकर कहते हैं—“जो शिक्षा-प्रणाली जीवन की समस्याएँ और आवश्यकताओं के समाधान के लिए मनुष्य को तैयार नहीं करती, वह शिक्षा-प्रणाली मनुष्य को गूंगा और पंगु बनाती है। इतना ही नहीं, वह शिक्षा-प्रणाली मनुष्य को पराश्रयी बनाती है। कार्यविहीन ज्ञान का भयानक दुष्परिणाम यही है। थोथे ज्ञान ने श्रमनिष्ठा को मिटा दिया। पढ़नेवाले अकर्मण्य हो गये। शरीर क्षीण और दुर्बल हो गया। जीवन भार होने लगा।”*

* ‘बुनियादी शिक्षा में समवाय’—श्री द्वारका सिंह

स्पष्ट है कि अँगरेजी-शिक्षा भारतीय जीवन के वास्तविक प्रवाह से बहुत दूर थी। फिर भी विद्यार्थियों में पुस्तकीय कीट बनने की धुन सवार थी। इस अव्यावहारिक अँगरेजी-शिक्षा का खोखलापन तब तक छिपा रहा जब तक शिक्षित युवकों की संख्या नौकरियों से कम थी या बराबर थी, पर ज्योंही शिक्षितों की संख्या बढ़ी कि अँगरेजी-शिक्षा की निस्सारता निखर आई। उन्हें अनुभूत होने लगा कि नौकरी को छोड़ वे और किसी काम के लायक नहीं हैं। जैसे-जैसे समय बीता, असन्तोष की मात्रा बढ़ती गई।

भारतीय शिक्षा की यही अधोगति देखी हमारे वन्दनीय बापू ने। क्रान्ति के उस पुजारी ने इस शिक्षा का तीव्र विरोध किया। लेखनी उठाई और 'हरिजन' में अपने भावों को अभिव्यक्त करते हुए कई लेख लिखे। आज तक भारत ने उनके राजनीतिक रूप को ही देखा था। अब पता लगा कि गांधीजी शिक्षा के क्षेत्र में भी अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं। राजनीति की तरह शिक्षा-क्षेत्र को भी गांधीजी का नेतृत्व प्राप्त हुआ। शैक्षिक गगन में इस प्रकार एक नवीन नक्षत्र का आविर्भाव हुआ। रुढ़ि-ग्रस्त प्रचलित विचार-धारा एक बड़ी चट्टान से टकरा गई।

सन् १९३७ ई० में एक शिक्षा-सम्मेलन का वर्धा में आयोजन हुआ। शिक्षा-शास्त्रियों के समक्ष गांधीजी ने अपने क्रान्तिकारी विचार रखे। उन्होंने कहा कि मातृभाषा के माध्यम से ही शिक्षा प्रत्येक द्वार पर पहुँचाई जा सकती है, न कि अँगरेजी माध्यम से। "शिक्षा सूर्य की विश्वव्यापिनी अनन्त रश्मियों की भाँति सर्व-सुलभ और व्यापक होनी चाहिए। सूर्य का प्रकाश बिना किसी भेद-भाव के हरिजन के घर से लेकर ब्राह्मण के घर तक, धरातल से उच्च शृंग तक, कोमल लताओं से लेकर महान पादपों तक, पशु से मनुष्य तक को सहज रूप में मिलता रहता है। यही शर्त सच्ची शिक्षा के साथ होनी चाहिए। ऐसी शिक्षा एक की नहीं, अनेक की होगी; व्यक्ति की नहीं, समाज की होगी; वर्ग की नहीं, समूह की होगी; गरीब की ही नहीं, धनियों की भी होगी; छोटों की

नहीं, बड़ों की भी होगी यानी सर्व के उदय के लिए होगी। ऐसी शिक्षा के प्रचार में पैसा बाधक नहीं होगा। इसलिए, वह निःशुल्क होगी, जातीयता की संकीर्णता और वैभव की विपुलता बाधक नहीं होगी, इसलिए वह अनिवार्य होगी।”* गांधीजी ने यह भी बताया कि प्राथमिक शिक्षा सात साल की हो और सर्वसाधारण के लिए हो। साथ ही साथ शिक्षा उद्योग-केन्द्रित होनी चाहिए। उच्च शिक्षा की व्यवस्था विश्वविद्यालयों के हाथ छोड़ देनी चाहिए। उन्होंने साक्षरता-मात्र को न शिक्षा का आरम्भ और न अन्त ही बताया। यथार्थ शिक्षा के लिए साक्षरता माध्यम हो सकती है; वस। सच्ची शिक्षा तो साक्षरता के अभाव में भी दी जा सकती है, अथवा इसके बाद। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली जितनी खर्चीली है उतनी ही हानिप्रद। हानिप्रद तो इसलिए है कि ऐसी शिक्षा से संपन्न व्यक्ति न घर का रह पाता है, न घाट का ही। न वह कोई नया पेशा ही सीख पाता है न उसे पैतृक पेशों में ही कोई अभिरुचि रह पाती है। नगरों की चकाचौंध में पड़ कर गाँवों से भागा-भागा वह नगरों में आता है और नगरों में उसे दर-दर ठोकरें खानी पड़ती हैं। हमें ऐसी शिक्षा नहीं चाहिए। चन्द शहरों की तरक्की हिन्दुस्तान की तरक्की नहीं कही जा सकती। शिक्षित होकर हमें तो गाँवों में ही रह कर उनमें चार चाँद लगाने हैं। जिस शिक्षा से हमारा घर उजड़ता है वह शिक्षा यथार्थ नहीं। मोल दसे को उजाड़ने में नहीं, विगड़े को बनाने में है। अतः प्रचलित शिक्षा-प्रणाली हमारे काम की बिल्कुल नहीं है।

राष्ट्रपिता की इस क्रान्तिकारी वाणी ने देश के शिक्षा-शास्त्रियों के आलस्य और अकर्मण्यता को कस कर भकभोर दिया। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद गांधीजी के इन शैक्षिक विचारों को वर्धा के शिक्षा-सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया। इस वाद-विवाद के आधारभूत विषय थे शिक्षा का निःशुल्क और उद्योग-केन्द्रित होना तथा सात वर्ष की प्राथमिक शिक्षा का अनिवार्य होना। सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों को

कार्यान्वित करने के लिए एक पूरी शैक्षिक योजना को तैयार करने का भार एक समिति को सौंपा गया, जिसकी अध्यक्षता डॉ० जाकिर हुसैन ने की। सन् १९३७-३८ में एक पूरी योजना बनकर तैयार हो गई और इस प्रकार देश में बेसिक शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात हुआ। संयोगवश उस समय देश के अधिकांश प्रान्तों की सरकारें कांग्रेस-पार्टी की थीं। इसलिए इस नई बेसिक शिक्षा-प्रणाली का सीमित प्रयोग देश के कई भागों में एक साथ ही शुरू हुआ।

अनेक लोगों ने इस नई प्रणाली की कटु आलोचना भी की। इस आलोचना के आधार थे इस शिक्षा-प्रणाली का धार्मिक शिक्षा की ओर से उदासीन होना, शिक्षा का उद्योग-केन्द्रित होना तथा उसकी आय से शिक्षा का स्वावलम्बी होना आदि। कुछ के उत्तर तो स्वयं गांधीजी ने अपने 'हरिजन' पत्र में निकाले और कुछ के औरों ने। इस बेसिक शिक्षा-प्रणाली के मौलिक सिद्धान्तों में तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, पर इसके पठ्यक्रम में समय-समय पर कुछ परिवर्तन अवश्य किये गये, जो अनुभवों के आधार पर आवश्यक समझे गये।

बेसिक-शिक्षा-प्रणाली के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करने के पूर्व हम गांधीजी के दार्शनिक विचारों पर थोड़ा प्रकाश डालना चाहते हैं, क्योंकि बेसिक शिक्षा-प्रणाली उनके दार्शनिक विचारों का गत्यात्मक स्वरूप समझी जाती है। व्यावहारिक क्षेत्र में यह प्रणाली उन विचारों का किस हद तक प्रतिनिधित्व करती है और किस हद तक नहीं, यह और बात है। इस बात की विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

गांधीवाद
का स्वरूप

आश्चर्य की बात है कि एक ओर तो हम यह देखते हैं कि गांधीजी इस बात का समर्थन करते हैं कि बेसिक शिक्षा-प्रणाली धार्मिक शिक्षा की ओर से उदासीन रहे और दूसरी ओर हम पाते हैं कि उनका व्यक्तिगत जीवन धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत था। वे मानव-जीवन का परम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति मानते थे। वे कहते थे—“मे ईश्वर

की एकान्त इकाई में विश्वास करता हूँ, और इसीलिए सम्पूर्ण मानवता की इकाई में भी, यद्यपि हमलोगों के शरीर अनेक हैं। ❀ गांधीजी ईश्वर को सर्वव्यापी मानते थे और कहते थे कि प्राणियों और वस्तुओं से भरा हुआ विश्व ही उस विश्वात्मा का व्यक्त स्वरूप है। अतः उसके दर्शन हमें इन्हीं प्राणियों और वस्तुओं में मिलते हैं। इसलिए मानवमात्र की सेवा ही ईश्वर की सेवा है और यह सेवा उसकी प्राप्ति का एक सोपान है। सारी मानव-जाति की इकाई की भावना से प्रेरित होकर वे कहा करते थे कि विश्व-भर के मानव हमारे पड़ोसी हैं। भारतवासी तो मेरे केवल निकट के पड़ोसी हैं।

सत्य सनातन है; ईश्वर भी। इसलिए दोनों में कोई विभेद नहीं। सत्य की प्राप्ति ही ईश्वर की प्राप्ति है। सत्य की प्राप्ति सत्याचरण के द्वारा ही संभव है। इस सत्याचरण के लिए अहिंसा, अनुशासन और अहंकारशून्यता आवश्यक है। ऐश्वर्य इस सत्य की प्राप्ति में बाधक है।

अहिंसा के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए गांधीजी कहते हैं कि डूब कर देखने पर पता चलता है कि सत्य और अहिंसा एकाकार हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। यदि दोनों में कोई विभेद है तो बस यही कि सत्य साध्य है और अहिंसा उसका साधन है। सारे प्राणियों से प्रेम इस अहिंसा का व्यक्त स्वरूप है। इसलिए मानव-मात्र से प्रेम इस अहिंसा के लिए आवश्यक है। वास्तविक अहिंसा बिना हृदय की शुद्धता के नहीं संभव होती। शुद्ध हृदय में हिंसा, द्वेष तथा क्रोध का निवास नहीं हुआ करता। यह शुद्धता मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों प्रकार की होनी चाहिए।

गांधीजी की अहिंसा की कल्पना में कायरता या निष्क्रियता का निवास नहीं है। वे कहते हैं कि यदि मुझे हिंसा और कायरता के बीच एक को चुनने को कहा जाय तो मैं हिंसा को चुन लूँगा, पर

* "I believe in the absolute oneness of God and therefore also of humanity; what though we have many bodies."

यदि हिंसा और अहिंसा के बीच किसी एक को चुनना पड़ा तो मैं अहिंसा को चुनूँगा। स्पष्ट है कि गांधीजी की अहिंसा की कल्पना में महान् आत्मत्याग और अचल साहस सम्मिलित है। सच तो यह है कि उनकी सत्य और अहिंसा की कल्पना इतनी व्यापक है कि सभी नैसर्गिक गुणों की अपेक्षा उन दोनों के आचरण को हो जाती है। जिस प्रकार पशु का नियम हिंसा है उसी प्रकार मानव का अहिंसा। हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक प्रभावोत्पादक है। हिंसा का व्यवहार पापियों के हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है, पर अहिंसा का व्यवहार नहीं। अहिंसा के प्रयोग से अपराधी और दंडकर्त्ता दोनों का सुधार होता है। इसलिए दुराइयों को दूर करने के लिए अहिंसा से बढ़कर कोई अस्त्र नहीं।

अहिंसा का पुजारी, धनी हो या बलवान्, शोषक नहीं हो सकता। इसके प्रयोग से शोषक और शोषित दोनों वर्ग विलीन हो जाते हैं। अतः अहिंसा से ही एक आदर्श समाज की स्थापना हो सकती है। सुन्दर समाज इसी अहिंसा अथवा प्रेम के आधार पर स्थापित किया जा सकता है। आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमताएँ अहिंसा के ही आचरण से दूर हो सकती हैं।

एक ओर यदि ऐश्वर्य के बाहुल्य को गांधीजी दुरा बताते हैं तो दूसरी ओर नग्न निर्धनता को भी। आर्थिक पराश्रयिता अनेक पापों को जन्म देती है। आध्यात्मिक जीवन को भी स्वस्थ शरीर की अपेक्षा होती है। सामाजिक दृष्टि से गांधीजी 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'—वाले सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इसलिए एक सीमा तक आर्थिक स्वतंत्रता वे आवश्यक मानते हैं। गांधीजी एकान्त संन्यास में विश्वास नहीं करते हैं। व्यक्तिविशेष के लिए यह संभव होकर भी सारे समाज के लिए संभव नहीं है। एक सीमा तक पार्थिव पदार्थ परमावश्यक हैं, और नहीं तो जीवन-यापन के लिए ही। स्पष्ट है कि गांधीजी इन भौतिक वस्तुओं को केवल साधन मानते हैं, पूँजीपतियों अथवा औरों की तरह साध्य नहीं। शरीर-धारण की

आवश्यकता से अधिक भौतिक पदार्थ फिर साध्य का स्वरूप धारण करने लग जाते हैं।

सीमित भौतिकता को आवश्यक समझ कर गांधीजी उद्योग-केन्द्रित शिक्षा के समर्थक हैं, यद्यपि वे इस प्रणाली के अन्य शैक्षिक गुणों में भी विश्वास करते हैं। शिक्षित नवयुवकों के बीच बेकारी के तांडव नृत्य को देख कर वे औद्योगिक तथा कृषि-शिक्षा को जन-शिक्षा का आवश्यक अंग मानते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव नैतिक दौर्बल्य का एक प्रधान कारण बन जाता है।

कर्मयोग में गांधीजी का अखंड विश्वास है। औरों को कहने के पहले वे स्वयं उसका अभ्यास करते हैं। थोथे विश्वास में वे विश्वास नहीं करते। क्रियाशीलता को वे विश्वास का व्यक्त रूप मानते हैं। जो विश्वास ठोस कर्म का रूप धारण नहीं करता उसे वे केवल ढोंग मानते हैं। उनका यही सिद्धान्त उनके शैक्षिक विचारों की रीढ़ है। कोरे पुस्तकीय ज्ञान को वे इसीलिए बुरा बताते हैं। बेसिक शिक्षा-प्रणाली के मौलिक सिद्धान्त गांधीवाद की ही आधारशिला पर स्थित किये गये हैं।

बेसिक शिक्षा की अवधि सात साल की मानी गई है। यह प्रायः ७ और १४ साल की आयु के बीच दी जानी चाहिए। यही शिक्षा इस देश की प्राथमिक शिक्षा (Primary education)

बेसिक शिक्षा-प्रणाली
की विशिष्टताएँ

मानी गई है। देश के शासन-विधान में इस प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व देश की सरकार पर रखा गया है, क्योंकि प्रजातन्त्र में प्राथमिक शिक्षा परमावश्यक समझी जाती है। तानाशाही अथवा शिष्ट-जन-सत्ता राज्यों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी प्रजातन्त्र में हुआ करती है। प्रजातन्त्र की सरकार को जनता चुनती है। अन्धी, अज्ञान और अशिक्षित जनता की सरकार अन्धी हो सकती है। जिस देश की जनता अपने देश की समस्याओं और आवश्यकताओं को नहीं समझती; जिस देश की जनता विश्व के रंगमंच पर होने-

वाली घटनाओं के राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रभावों को नहीं समझ सकती; जिस देश की जनता यह नहीं समझती कि किस राजनीतिक दल के द्वारा देश का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकता है और जिस देश की जनता यह नहीं समझने की क्षमता रखती कि भिन्न-भिन्न उम्मीदवारों में कौन उसका सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है उस देश की सरकार पर कैसे भरोसा किया जा सकता है। ऐसे देश की सरकार यदि अच्छी निकली तो उसे एक आकस्मिक घटना ही मानना चाहिए। उसका श्रेय जनता का नहीं, प्रत्युत व्यक्तिविशेष का कहा जायगा जिसके हाथों में संयोगवश सरकारी वागडोर आ गई है। आकस्मिक घटना आकस्मिक घटना ही कही जायगी; उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं सदी के प्रायः अन्त में इंग्लैंड में जन-शिक्षा की लगभग यही अवस्था थी जिसके कारण वहाँ पुकार हुई 'We must educate our masters.' अर्थात् हमें अपने मालिकों (मतदाताओं को जिन्होंने हमें सरकारी तख्त पर बैठाया है) को अवश्य शिक्षित बनाना चाहिए।

बेसिक शिक्षा की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी कल्पना उद्योग-केन्द्रित शिक्षा के रूप में की गई है। मानना पड़ेगा कि इस कल्पना का आधार जितना ही मनोवैज्ञानिक है उतना ही दार्शनिक। मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों से हमें पता चलता है कि क्रियाशीलता जन्मजात वान-प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। यह रचनात्मक प्रवृत्ति उन्हें कुछ-न-कुछ रचनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करती रहती है। पुस्तकीय कीट बनना उनकी सहज प्रवृत्तियों के प्रतिकूल है। बेसिक शिक्षा-प्रणाली में इस प्रवृत्ति का समावेश यथासाध्य किया गया है।

प्रारम्भिक दिनों में यह आशा की गई कि उद्योग-केन्द्रित यह बेसिक शिक्षा स्वावलम्बी सिद्ध होगी। देश दरिद्र है। इसकी सरकार अनिवार्य जन-शिक्षा के खर्च का बोझ वहन न कर सकेगी, पर पूरे देश को शिक्षित बना देना भी उतना ही आवश्यक है। इन दो मुश्किलों के बीच यह रास्ता निकाला गया कि यदि हमारी प्राथमिक शिक्षा उद्योग-

केन्द्रित हो, तो बालकों की बनाई हुई वस्तुओं की बिक्री से शिक्षकों का वेतन निकल आवेगा और शिक्षा के लिए सरकारी आर्थिक सहायता की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इस तरह सारा देश अनायास ही शिक्षित बन जायगा। सूरभ थी बड़ी दूर की, पर वास्तविकता की चट्टान पर यह आशा चकनाचूर हो गई। बेसिक शिक्षा के कुछ वर्षों के प्रयोग में ही यह पता चला कि कल्पना और वास्तविकता के बीच अधिक सामञ्जस्य नहीं है। बेसिक शिक्षा के कट्टर हिमायतियों ने भी इस कमजोरी को महसूस ही नहीं किया, मंजूर भी किया। गांधीजी की यह आशा व्यावहारिक स्तर पर पूरी नहीं हो सकी। संभव है कि जितने आदर्श रूप में इस कार्य के सम्पादन की कल्पना उन्होंने की थी उस रूप में हम इसे न कर सके। कुछ व्यक्तियों के द्वारा किसी काम को किसी कल्पित आदर्श के रूप में किया जाना जितना संभव है उतना सभी व्यक्तियों के द्वारा नहीं। तथापि यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि आर्थिक स्वावलम्बन की दृष्टि से भी यह बेसिक शिक्षा किसी अंश में अवश्य सफल हुई है। यह भी संभव है कि कालान्तर में हम अपने अनुभवों से सीख कर उसे अधिक स्वावलम्बी बना सकें।

इस बेसिक शिक्षा की यह भी विशेषता है कि यह उद्योग-केन्द्रित होने के साथ-साथ जीवन-केन्द्रित भी है। यथार्थ सामाजिक जीवन के उद्योग-धन्धों के नमूनों के आधार पर शैक्षिक उद्योग का चुनाव किया जाता है। जो ज्ञान इस उद्योग से अनुबंधित नहीं किये जा सकते उन्हें स्थानीय प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण से अनुबंधित करने की चेष्टा की जाती है। इस तरह जीवन की वास्तविक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में यह बेसिक शिक्षा दी जाने की कल्पना की गई है।

बेसिक शिक्षा की अन्य विशेषता यह है कि इस शिक्षा का माध्यम मातृभाषा है। यह तो स्पष्ट ही है कि विदेशी भाषा को माध्यम बना कर प्राथमिक शिक्षा घर-घर नहीं पहुँचाई जा सकती थी। कुछ ही लोगों तक स्वभावतः सीमित रहने के कारण अँगरेजी भाषा ने

भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया था। उसने शिक्षित और अशिक्षित दो वर्ग उत्पन्न कर दिये थे; ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न कर दी थी; मातृभाषा को तिरस्कृत तथा उपेक्षित बना दिया था तथा युग-मर्यादित भारतीय सभ्यता-संस्कृति की जड़ पर कुठाराघात कर दिया था। बन्धुत्व बिलख रहा था, समाज शिथिल हो रहा था और राष्ट्रीयता रूप हो गई थी। विदेशी भाषा के माध्यम होने की हानियों को बेसिक शिक्षा के निर्माताओं ने परखा और इसीलिए मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया और सामाजिक वर्गों के बीच जो कृत्रिम खाई उत्पन्न कर दी गई थी उसे पाटने की चेष्टा की।

पिछले पृष्ठों में हम शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को बतला चुके हैं जिनका प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद के अनुसरण करने-

शिक्षा का उद्देश्य

वाले समर्थन करते हैं। बेसिक शिक्षा-प्रणाली के उद्देश्य का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि इसमें सभी के कुछ-कुछ अंश सम्मिलित हो गये हैं। प्रयोजनवादी शैक्षिक उद्देश्य भी विशुद्ध नहीं कहा जा सकता। उसमें भी प्रकृतिवादी तथा आदर्शवादी उद्देश्यों का सम्मिश्रण है। सच पूछो तो विशुद्ध या अमिश्रित होने का कोई भी शैक्षिक उद्देश्य दावा नहीं कर सकता।

शिक्षा के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा था—“आपमें जो उत्तमोत्तम तत्त्व हैं उनके विकास का नाम ही शिक्षा है। मानव-पुस्तक से बढ़कर सुन्दर पुस्तक कौन हो सकती है। * वे मानते थे कि मनुष्य अनेकानेक सुप्त शक्तियों का भाण्डार हुआ करता है। ये शक्तियाँ आप ही आप विकसित नहीं हो जाया करतीं। इस विकास के लिए उपयुक्त शिक्षा की अपेक्षा होती है। अध्ययन का सबसे सुन्दर विषय

* “Real education consists in drawing the best out of yourself. What better book can there be than the book of humanity.”

चिन्ता नहीं। चिन्ता है केवल एक—परीक्षा पास करने की, वास्तविक ज्ञान हो या न हो। चन्द चीजों की जानकारी जबरदस्ती माथे में ठूस देने भर से ही मानसिक विकास नहीं हो जाया करता, इस बात को वे या तो जानते ही न थे और यदि जानते भी थे तो उसकी परवाह नहीं थी। उन्हें तो विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र भर से नाता था। बाजार में माँग थी तो बस उसकी। आचरण की उच्चता और शरीर की सबलता पर किसी की दृष्टि ही न थी। इस ओर से शिक्षक तो प्रायः उदासीन थे ही, माँ-बाप तक उदासीन थे। ऐसी थी अधोगति अँगरेजी शिक्षा-प्रणाली में। गांधीजी की पैनी दृष्टि प्रचलित शिक्षा के सभी पहलुओं पर पड़ी और इसीलिए व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर उन्होंने इतना बल दिया।

नैतिक और आध्यात्मिक विकास को भी गांधीजी बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। यह महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि सत्य अथवा परमात्मा की प्राप्ति का यह प्रधान साधन है। वे कहते हैं कि आत्मा का विकास यदि शरीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ नहीं हो तो इन दोनों का विकास असन्तुलित विकास का व्यापार साबित होगा। ❀ स्पष्ट है कि गांधीजी आजकल की तरह आंशिक विकास के स्थान में सर्वांगीण विकास में ही वास्तविक कल्याण देखते हैं। यही नहीं, वे इन तीनों की अन्योन्याश्रयिता में भी विश्वास करते हैं।

नैतिक विकास का व्यक्त रूप चरित्र-गठन है। जिसने अपने दैनिक आचरण में सत्य, अहिंसा, त्याग, साहस, न्याय तथा आत्म-नियन्त्रण आदि का अभ्यास नहीं किया, वह हृदय की शुद्धता को क्या खाक पा सकता है। इस शुद्धता को गांधीजी नैतिक तथा

*“Unless the development of the mind and body goes hand in hand with a corresponding awakening of the soul, the former alone would prove to be a poor lop-sided affair.”

आध्यात्मिक विकास का स्वरूप मानते हैं। स्पष्ट है कि गांधीजी के दार्शनिक विचारों में व्यावहारिकता कूट-कूट कर भरी है। सफल अनुभवी की तरह वे मानते हैं कि सत्य के आचरण से ही सत्य अथवा ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। तैरना तैरकर ही सीखा जा सकता है, पुस्तक-पाठ, अथवा गुरु के मौखिक उपदेश से नहीं। सत्-शिक्षा मनुष्य को भाँति-भाँति के बन्धनों से मुक्त करती है। एक ओर पेट की ज्वाला हमें पार्थिव पदार्थों के बन्धन में बाँधती है तो दूसरी ओर भाँति-भाँति के दुर्गुण हमारी आत्मा को निम्न स्तर पर बाँध रखते हैं। शिक्षा का लक्ष्य है इन बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना।

उपर्युक्त सारे उद्देश्य शिक्षा के उद्देश्य होकर भी साधन-मात्र ही हैं। जीवन का परम लक्ष्य तो आत्म-दर्शन है। आत्म-दर्शन, सत्य-दर्शन और ईश्वर-दर्शन गांधीजी की दृष्टि में पर्यायवाची हो जाते हैं। गांधीजी कहते हैं—‘आत्म-दर्शन ही जीवन और शिक्षा का परम ध्येय है। नैतिक आचरण का विकास तथा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति, ये सब उस वास्तविकता अथवा इस ससीम आत्मा के उस असीम परमात्मा में एकाकार हो जाने के साधन-मात्र हैं।’^१

इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर गांधीजी भौतिक जगत् से दूर आध्यात्मिक जगत् में विहार करते दीखते हैं तो दूसरी ओर सांसारिक आवश्यकताओं को भी विस्मृत नहीं करते। सीमित भौतिकता और आध्यात्मिकता में वे विरोध नहीं देखते। विरोध भौतिकता में लिप्त होने पर आरम्भ होता है। जब तक भौतिकता साधनस्वरूप रखी जाती है तब तक उसमें कोई बुराई नहीं है; बुराई क्या, वह आवश्यक है।

“Self-realisation is the summum bonum of life and education. Development of moral character, development of the whole man—all were directed towards the realisation of the ultimate reality—the merger of the finite being with the infinite.”

के लिए चुना जाय वह हाथों से किया जानेवाला हो और आर्थिक दृष्टि से उत्पादक भी हो। ऐसे उद्योग हैं कताई-बुनाई, कृषि-कर्म, लकड़ी और लोहे के काम, सिलाई, चमड़े के काम, साग-सब्जी उपजाना तथा पशु-पालन इत्यादि।

गांधीजी ने अपने ही अनुभवों से जाना कि उद्योग प्रायः सभी प्रकार की शिक्षाओं का माध्यम बनाया जा सकता है। आश्रमवासियों को कताई-बुनाई सिखाते समय उन्होंने इसे केवल व्यावसायिक शिक्षा का रूप नहीं दिया, बल्कि उसे मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा का साधन भी बनाया। इतिहास, भूगोल और विज्ञान की शिक्षाएँ भी उन्होंने साथ-साथ दीं। शिक्षाएँ मौखिक थीं। उनका तो यहाँ तक विश्वास था कि पुस्तक-पाठ की अपेक्षा दसगुनी शिक्षा इस प्रकार दी जा सकती है। अतः कहा जा सकता है कि उद्योग-केन्द्रित समवाय शिक्षण-प्रणाली अनुभव-प्रसूत थी। बहुत अंशों में उन्होंने इसे सफलता पूर्वक किया भी। अपने 'हरिजन' पत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है--
 "हाथ अथवा यंत्र की प्रत्येक प्रक्रिया के सम्बन्ध में ज्योंही यह बताया जाता है कि उसकी क्या आवश्यकता है, त्योंही शिक्षार्थी का वास्तविक मानसिक विकास आरम्भ होता है।"

गांधीजी का विश्वास इस उद्योग-केन्द्रित समवाय शिक्षण-प्रणाली में इस हद तक बढ़ गया था कि उन्होंने यह भी कहा कि यदि शिक्षार्थी किसी उद्योग को सीख लेने के बाद इसे अपने जीवन का व्यवसाय न भी बनाए, तब भी यह शिक्षण-प्रणाली अपनाने योग्य है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि एकान्त मानसिक (पुस्तकीय) शिक्षा देने से शारीरिक और मानसिक दौर्बल्य तथा आलस्य उत्पन्न हो जाया करते हैं, पर यह उद्योग-केन्द्रित शिक्षा-प्रणाली शिक्षार्थियों में इन दुर्गुणों को उत्पन्न नहीं होने

*"True development of the mind commences immediately the apprentice is taught at every step why a particular manipulation of the hand or a tool is required."

देती। यही नहीं, समवाय-प्रणाली के द्वारा उद्योग-केन्द्रित शिक्षा वर्तमान समाज में प्रचलित-शोषण क्रिया को बन्द कर देगी। इस तरह एक समाजवादी समाज की सृष्टि होगी।

इस समवाय-शिक्षण-प्रणाली के लिए कई उद्योगों की सूची दी गई, पर साथ ही साथ यह भी आदेश दिया गया कि विद्यालय में जो भी उद्योग चुना जाय वह स्थानीय समाज के उद्योग अथवा व्यवसायों में से एक हो। अभिप्राय यह है कि उस उद्योग की शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी शहरों की ओर भागने को विवश न हों, पर अपने ही गाँव में रह कर उस ग्रामीण उद्योग को अधिक वैज्ञानिक ढंग से चला कर अपनी और परिणामस्वरूप अपने ग्राम की उन्नति करें। ग्राम तथा व्यक्ति का वास्तविक कल्याण इसी प्रकार की शिक्षा-प्रणाली में है। ऐसी ही उद्योग-केन्द्रित शिक्षा जीवन-केन्द्रित शिक्षा कही जा सकती है।

शैक्षिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन एक ओर यदि शिक्षण-प्रणाली है तो दूसरी ओर पाठ्य-क्रम भी है। सात साल की शिक्षा में पाँच साल की शिक्षा सहशिक्षा (co-education) है और बेसिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम बालक-बालिकाओं की शिक्षा का पाठ्य-क्रम एक-सा है। इसके अन्तिम दो वर्गों में बालक-बालिकाओं की शिक्षा अलग-अलग हो जाती है और सामान्य-विज्ञान के स्थान में लड़कियों के लिए गृह-विज्ञान है। पाठ्य-क्रमा-न्तर्गत भिन्न-भिन्न विषयों की सूची इस प्रकार है :—

१—उद्योग (शैक्षिक केन्द्र)

क—कताई-बुनाई,

ख—कृषि,

ग—वागबानी

घ—काष्ठ-कला

च—लौह-कला

छ—चर्म-कला

ज—स्थानीय वातावरण के अनुकूल अन्य उद्योग
(अपनी-अपनी रुचि के अनुसार तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कोई एक या दो)

२—मातृ भाषा

३—गणित

४—समाज-अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र आदि के आवश्यक अंग)

५—सामान्य विज्ञान (प्रकृति-अध्ययन, वनस्पति-शास्त्र, पशु-विज्ञान, शरीर-शास्त्र, स्वास्थ्य-शिक्षा, रसायन-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञान आदि के व्यावहारिक अंग)

६—कला (चित्र-कला, वास्तु-कला इत्यादि)

७—संगीत

८—गृह-विज्ञान (लड़कियों के लिए)

९—हिन्दुस्तानी

बिहार की माध्यमिक स्कूल परीक्षा (Secondary School Examination, Bihar) के पाठ्य-क्रम को देखने पर मालूम पड़ता है कि यह बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। पहली और मुख्य भिन्नता यह है कि बेसिक शिक्षा प्राथमिक शिक्षा होने के नाते इसके पाठ्य-क्रम में अँगरेजी को कोई स्थान नहीं है और दूसरी विशेषता यह है कि उद्योग बेसिक शिक्षा का एक अनिवार्य विषय ही नहीं माना गया है, प्रत्युत यह अन्य विषयों की शिक्षा के लिए माध्यम भी माना गया है, पर माध्यमिक स्कूल-परीक्षा के पाठ्य-क्रम में उद्योग एक ऐच्छिक विषय है। कला और संगीत भी ऐच्छिक ही हैं।

बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इस बात पर ध्यान रखा गया है कि जो बालक या बालिका जिस उद्योग को चुने, उसमें इतनी प्रवीणता अवश्य प्राप्त कर ले कि वह यदि चाहे तो उसे अपने जीवन का मुख्य व्यवसाय बना सके। अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी यह बात ध्यान

में रखने की है कि उनके वे ही अंग पाठ्य-क्रम में सम्मिलित किये जायँ जिनकी आवश्यकता दैनिक जीवन में हुआ करती है। इन सभी बातों का अभिप्राय एक यही है कि बेसिक शिक्षा अधिक-से-अधिक जीवन-केन्द्रित या व्यावहारिक हो। इस स्तर पर किसी भी विषय में केवल शुद्ध पांडित्य प्राप्त करना उद्देश्य नहीं।

यह आशा की जाती है कि उद्योग की उचित शिक्षा के परिणाम-स्वरूप शिक्षार्थी श्रम के महत्त्व को समझेगा, मिलजुल कर योजना बनाने और कार्य करते हुए वह सहकारिता का अभ्यास आरम्भ से ही पकड़ लेगा तथा समाज में स्वाश्रयी बन कर एक सफल नागरिक बन सकेगा। केवल मानसिक श्रम करनेवालों में प्रायः जो मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है उस रोग से विद्यार्थी दूर रह सकेगा। इस प्रकार एक वर्गविहीन समाजवादी समाज की स्थापना हो सकेगी और प्रत्येक व्यक्ति एक चतुर भोक्ता तथा चतुर उत्पादक बन कर समाज में जीवन-यापन कर सकेगा। इस प्रकार भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति हो सकेगी। यही था गांधी जी का स्वप्न और इसी स्वप्न को सत्य करने के लिए ऐसे पाठ्य-क्रम की कल्पना साधन-स्वरूप की गई थी।

अपने दार्शनिक विचारों के ही अनुकूल गांधीजी अहिंसात्मक अनुशासन में विश्वास करते हैं। हिसापूर्ण अनुशासन, जो डंडों के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उससे अनुशासन का सारा अभिप्राय नष्ट हो जाता है।

अनुशासन का स्वरूप परिणाम यह होता है कि जब तक डंडा वर्तमान हुआ करता है तभी तक अनुशासित आचरण दृष्टिगोचर होता है और अध्यापक या अभिभावक के पीठ फेरते ही छुप कर अभद्र आचरण करने की प्रवृत्ति बालक में जाग्रत हो जाती है। स्पष्ट है कि ऐसे अनुशासन को सच्चा अनुशासन नहीं कहा जा सकता।

गांधीजी बाहर से लादे हुए अनुशासन को सच्चा अनुशासन नहीं मानते थे। अनुशासन और सत्कर्म की ओर आंतरिक प्रेरणा होनी

चाहिए। यह प्रेरणा किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है इसके सम्बन्ध में गांधीजी की धारणा थी कि उपयोगी उद्योगों तथा कार्यों के सम्पादन में जो स्वाभाविक तल्लीनता होती है वह स्वयं अनुशासन के अनुकूल वातावरण को उत्पन्न कर देती है। इसलिए बाल-शिक्षा में क्रियाशीलता का महत्त्व अनुशासन की दृष्टि से भी बहुत अधिक है।

इस प्रेरणा के लिए यह भी परमावश्यक है कि शिक्षक स्वयं अपने अनुशासित कर्मों के उदाहरण बच्चों के समक्ष रखें। यह ठीक ही कहा गया है कि एक छटाक उदाहरण एक मन उपदेशों से भी अधिक प्रभावशाली हुआ करता है। स्कूलों में शिक्षक, गाँवों में ग्रामवासी और घरों में अभिभावक आदि यदि अपने उच्छृंखल आचरणों द्वारा अनुशासन-विहीन उदाहरण बच्चों के समक्ष निरन्तर रखते रहते हैं तो अनुशासन की आशा या पुकार अरण्य-रोदन ही कही जायगी। ऐसी परिस्थिति में अनुशासन-सम्बन्धी उपदेश या आदेश बिल्कुल थोथा है। इसीलिए, बेसिक शिक्षा में शिक्षक के आचरण पर भी विशेष जोर दिया गया है। अनुकूल परिस्थिति में अनुशासन आत्म-अनुशासन का रूप धारण कर लेता है। ऐसा ही अनुशासन आत्म-त्याग और आत्म-नियंत्रण में अभिव्यक्त होता है। यही आत्म-त्याग व्यक्ति में निर्भयता उत्पन्न करता है और इसी निर्भयता से अनीति और अत्याचारों के बीच भी व्यक्ति अपना सिर सीधा रख सकता है। यही आत्म-त्याग भाँति-भाँति के प्रलोभनों के बीच भी कुकर्मों से व्यक्ति की रक्षा करता है।

हमने देखा है कि बेसिक शिक्षा में ऐसे महत्त्वपूर्ण और व्यापक उद्देश्य की कल्पना की गई है कि उसकी पूर्ति के लिए बड़े ही योग्य, पाण्डित्यपूर्ण, उद्योग-प्रवीण, चरित्रवान् तथा प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता है। इनमें से यदि उनमें किसी भी गुण का अभाव होगा तो शिक्षण-कार्य उसी अनुपात में अपूर्ण हो जायगा। स्पष्ट है कि कार्य की गंभीरता के ही अनुपात में शिक्षक में गुण-सम्पन्नता भी होनी चाहिए।

शिक्षक तथा
शिक्षक-प्रशिक्षण

भिन्न-भिन्न विषयों में पाण्डित्य के अतिरिक्त शिक्षक में उद्योग की दक्षता का होना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो विषयों की शिक्षा कोई एक देगा और उद्योग की कोई और। इस प्रकार समवाय शिक्षण-प्रणाली छोड़ देनी पड़ेगी और शिक्षा उद्योग-केन्द्रित नहीं रह जायगी, जो कि बेसिक शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त है। उद्योग-अनुबन्धित शिक्षा ही वह आधार-शिला है, जिस पर बेसिक शिक्षा की पूरी इमारत खड़ी है। मानना पड़ेगा कि इस शिक्षा को सफल करने के लिए एक साथ ही अनेक जानकारियों की माँग शिक्षक में होती है। ऐसे शिक्षक मुश्किल से ही मिलेंगे और इस शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए योग्य शिक्षक जितनी ही कम संख्या में होंगे इस शिक्षा का प्रसार उतना ही कम होगा और यदि केवल प्रसार पर जोर डाला गया तो कार्य की उत्तमता गिर जायगी।

ऊपर की दलीलों से यह स्पष्ट होगा कि योग्य शिक्षकों का प्रश्न बेसिक शिक्षा के लिए एक बड़ा कठिन प्रश्न है। सच पूछिए, तो किसी भी शिक्षा के लिए योग्य शिक्षकों का सवाल टेढ़ा ही माना जायगा। आजकल की दुनिया में अनेक गुणों से सम्पन्न होना और भी कठिन है।

इतना ही नहीं, आवश्यक गुणों से युक्त शिक्षक मिलने से ही काम नहीं चल जाता। शिक्षकों का उचित प्रशिक्षण भी आवश्यक है। विषय-पाण्डित्य और उद्योग-प्रवीणता दोनों को अनुबन्धित भी करना है। उद्योग की विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ-साथ उपयुक्त अवसरों पर विभिन्न विषयों का अनुबन्धित ज्ञान देते जाने की कला को भी शिक्षक को जानना चाहिए। शिक्षण-कार्य की इस कला के लिए प्रशिक्षण (training) की बड़ी आवश्यकता है। जानते बहुत कोई हैं, पर शिक्षक सब कोई नहीं हो सकते। अतः मानना पड़ेगा कि भावी शिक्षकों के उचित प्रशिक्षण का प्रबन्ध परमावश्यक है।

शिक्षकों के लिए यह भी जरूरी है कि वे बेसिक शिक्षा-प्रणाली के मूलभूत सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित हों और समवाय शिक्षा-प्रणाली से अध्यापन-कार्य में पूरे प्रवीण हों। इन मूलभूत सिद्धान्तों के ज्ञान-मात्र

से ही काम नहीं हो जाता। उन सिद्धान्तों में शिक्षकों का विश्वास और प्रेम भी आवश्यक है। अविश्वास के पेड़ में सफलता के फल नहीं लगते। अनुपयुक्त शिक्षकों के कारण इस बेसिक शिक्षा-प्रणाली को जितनी हानियाँ जनसाधारण की दृष्टि में हुई हैं उतनी कदाचित् ही किसी और कारण से हुई हों।

प्रोफेसर विश्ववीर विद्यार्थी ने बेसिक शिक्षा की आलोचना करते हुए कहा है—‘प्रणाली, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से, सर्वथा मौलिक है। आदर्श की अपेक्षा यथार्थ पर, वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता पर, ज्ञान की अपेक्षा अनुभव पर, विचार की अपेक्षा क्रिया पर, सिद्धान्त की अपेक्षा व्यावहारिकता पर बल देना इसकी मौलिक विशेषताएँ हैं।’ मुझे इस मूल्यांकन में कुछ अतिशयोक्ति मालूम पड़ती है। बेसिक शिक्षा-प्रणाली मौलिक अवश्य है, पर सर्वथा मौलिक भी है—यह विवादपूर्ण प्रतीत होता है। सच पूछिए, तो सर्वथा मौलिक प्रायः कोई वस्तु होती ही नहीं। साधारणतः लोग सर्वथा मौलिक उसे कहते हैं जिसमें कुछ नवीनता होती है। बात यह होती है कि परिवर्तन या विकास के क्रम में आखिरी कड़ी को लोग मौलिक या सर्वथा मौलिक मान लेते हैं। इस बेसिक शिक्षा-प्रणाली के प्रायः सभी मुख्य तत्त्व प्रकृतिवादी, आदर्शवादी तथा प्रयोजनवादी शैक्षिक सिद्धान्तों में न्यूनाधिक मात्रा में आ चुके हैं। पिछले पृष्ठों में हमने इसे देखा भी है। इन सिद्धान्तों की बेसिक शिक्षा में क्या देन है, इसकी कुछ विस्तृत विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

फिर भी यह निर्विवाद है कि यह बेसिक शिक्षा-प्रणाली अधिकांश में मौलिक है। अनेक सिद्धान्तों का इसमें समावेश ही मौलिक माना जायगा। यदि एक ओर एक शैक्षिक सिद्धान्त ऊँचे आदर्शों को छूने का प्रयास करता है तो दूसरी ओर उसके पैर जमीन से उखड़े दिखाई देते हैं। कोई दार्शनिक सिद्धान्त यदि व्यक्ति के विकास को ही साग महत्त्व प्रदान करता है तो दूसरा समाज की बलिबेदी पर व्यक्ति को

बलिदान कर देता है। एक ओर ज्ञान, शुद्ध ज्ञान, को सारा श्रेय दिया जाता है तो दूसरी ओर अनुभव अथवा कर्म की प्रधानता स्वीकार की जाती है। बेसिक शिक्षा-प्रणाली की मौलिकता इस बात में है कि इन सारे सिद्धान्तों का सुन्दर सामञ्जस्य और सन्तुलन इसमें उपस्थित करने की चेष्टा की गई है।

बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त की जड़ मनोविज्ञान की ठोस भूमि में जमी है। बाल-प्रकृति के सुन्दर अध्ययन के परिणामस्वरूप गांधीजी ने बेसिक शिक्षा के जो-जो सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, वे बालक की जन्मजात मनोवृत्तियों के बिल्कुल अनुकूल हैं और बेसिक शिक्षा हर मानी में बाल-केन्द्रित कही जा सकती है। विदेशी शासन में जो शिक्षा-प्रणाली देश में प्रचलित थी उसने बालकों की सहज रचनात्मक प्रवृत्ति तथा क्रियाशीलता की पूरी उपेक्षा की थी। दुर्भाग्यवश आज भी वह अवस्था भारत के अधिकांश स्कूलों में वर्तमान है। बेसिक शिक्षा की योजना ही इस सिद्धान्त पर की गई है कि वह उद्योग-केन्द्रित होगी और समवाय शिक्षण-प्रणाली द्वारा दी जायगी। किसी-न-किसी उद्योग को करते हुए ही बालकों को न केवल उस उद्योग में प्रवीणता प्राप्त करनी है, बल्कि अन्य विषयों के ज्ञान भी प्राप्त करने हैं। उनको निरा पुस्तकीय कीट बनने का अवसर ही नहीं है। आँख और कान के अतिरिक्त उन्हें अपने पैर और हाथ भी हिलाने हैं। इससे बालकों में जो स्वाभाविक क्रियाशीलता की पिपासा है वह अनायास पूरी होती जाती है।

उद्योग के अनुसरण में बालकों की अनेक मानसिक शक्तियों का उपयोग होता है और फलतः वे शक्तियाँ विकसित होती चलती हैं। उद्योग-सम्बन्धी कार्यों की पूर्ति में बालक को छोटे-बड़े अनेक काम करने पड़ते हैं। श्री द्वारका सिंह बालक के इन्हीं कामों का विवरण देते हुए कहते हैं—“वह समझ-बूझ के साथ काम करेगा। काम करने के पहले उसे काम की योजना बनानी होगी। तब प्रस्तुत योजना के अनुसार सभी आवश्यक साधन इकट्ठे करने होंगे। ऐसा करने के बाद

योजना के निश्चय के अनुसार विभिन्न क्रियाओं को करना होगा। अपने किये हुए कर्मों का समय-समय पर सिंहावलोकन करना होगा तथा किये हुए कामों के अनुभवों को संग्रह करना होगा। इतनी बातों के करने में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न ज्ञान होंगे। परन्तु वे एक दूसरे से सम्बन्धित होंगे।”

स्पष्ट है कि उपयुक्त कार्यों के सफल सम्पादन में बालकों की कल्पना शक्ति विकसित होगी। उनमें आत्म-निर्भरता आवेगी और परिणामस्वरूप उनमें आत्म-विश्वास का जन्म होगा। इन बातों के अतिरिक्त जिस आत्म-अभिव्यंजना पर प्रकृतिवादी इतना अधिक जोर डालते हैं उसका पर्याप्त अवसर बच्चे को प्राप्त होगा।

सामाजिक दृष्टि से भी यह उद्योग-केन्द्रित बेसिक शिक्षा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस औद्योगिक कार्य का केवल यह अभिप्राय तो है नहीं कि उसे एक मूर्ख कारीगर बना दिया जाय। उद्योग केवल उद्योग नहीं रह कर अन्य विषयों के ज्ञान का प्रधान माध्यम भी बन जाता है। यही कारण है कि ऐसे उद्योग को चुनने का आदेश है, जो शैक्षिक सम्भावनाओं से युक्त हो।

जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला वह उद्योग साथ-ही-साथ उत्पादन की सम्भावनाओं के कारण जीविकोपार्जन का सुन्दर साधन भी बन जाता है। इस प्रकार शिक्षार्थी आर्थिक परतन्त्रता से मुक्त हो समाज का एक सफल नागरिक बन सकता है। वह श्रम का महत्त्व समझता है और अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है। आध्यात्मिकता का आदर्श हजार मान्य होते हुए भी जन-साधारण के दृष्टिकोण से यह अवश्य कहा जा सकता है कि रोटी-दाल का उद्देश्य भी शैक्षिक उद्देश्यों का अभिन्न अंग होना चाहिए। यह जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली इस दृष्टिकोण से बहुत अधिक दोषपूर्ण है। इसी दोष के निराकरण की चेष्टा बेसिक शिक्षा में उद्योग-केन्द्रित कर दी गई है। विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों की दुरवस्था गांधीजी से देखी नहीं गई। उन्होंने

सोचा कि वह शिक्षा किस काम की जो हमें दो जून भोजन तक न दिला सके ।

बेसिक शिक्षा में इस बात के लिए भी आदेश है कि भिन्न-भिन्न विषयों के आवश्यक ज्ञान, जो उद्योग से अनुबंधित न किये जा सकें, उन्हें बालकों के प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरणों से अनुबंधित किया जाय । इस प्रकार की क्रिया का परिणाम यह होगा कि बच्चों का ज्ञान परम व्यावहारिक होगा और वे अपने वातावरण से पूर्णतया परिचित हो जायेंगे ।

इस बेसिक शिक्षा से प्रत्येक व्यक्ति में आर्थिक क्षमता उत्पन्न होगी । इसका परिणाम यह होगा कि समाज के कुछ वर्गों में शोषण की जो प्रवृत्ति आज दिखाई देती है वह दूर हो जायगी और धीरे-धीरे एक वर्गहीन समाजवादी समाज की स्थापना होगी । ऐसा समाज सत्य और अहिंसा के आधार पर स्थित होगा । लोग स्वाश्रयी, सम्पन्न और सुखी होंगे । बेसिक शिक्षा में उद्योग-सम्बन्धी योजनाओं की पूर्ति में बच्चे मिल-जुल कर काम करने का अभ्यास पकड़ेंगे । इस तरह बन्धुत्व की भावना उनमें जाग्रत होगी । वे एक दूसरे के विचारों का आदर करना सीखेंगे । धीरे-धीरे एक सर्वोदय-समाज की स्थापना होगी जिसकी कल्पना गांधीजी ने की थी और जिसे संभव करने के लिए संत विनोबा भावे तथा श्री जयप्रकाश नारायण जैसे महापुरुष अहर्निश परिश्रम कर रहे हैं ।

बेसिक शिक्षा को यदि जैविक (biological) दृष्टिकोण से देखा जाय तब भी यह दोषरहित दीखती है । जीवन-संग्राम में सफल होने के लिए जिन तैयारियों की जरूरत होती है उनका पूरा ध्यान इस शिक्षा-प्रणाली में रखा गया है । यह शिक्षा न केवल हमें अपने वातावरण का परिचय प्रदान करती है, प्रत्युत उसपर यथासम्भव आधिपत्य प्राप्त करने में भी यह हमारी सहायता करती है ।

बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन करते हुए डॉक्टर पटेल ने उद्योग अथवा इसकी हस्त-कला के सम्बन्ध में कहा है—‘मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह हमारे अनुभवों के मानसिक तथा व्यावहारिक तत्त्वों

के बीच सन्तुलन समुपस्थित करती है। शरीर और मन दोनों की साथ-साथ शिक्षा के लिए यह साधन बन जा सकती है। समाजवादी दृष्टिकोण से भी यह हस्त-कला श्रम के महत्त्व और मानवीय एकता की सच्ची भावना को जगाती है। यह एक महत्त्वपूर्ण नैतिक लाभ होगा। यह बच्चों में सहकारिता, भ्रातृत्व और सेवा के गुण को विकसित करेगी जिससे पारस्परिक संघर्ष के सभी सम्भव कारण कम होंगे और समाज में शान्तिमय जीवन व्यतीत करने में सहायता होगी।'

बेसिक शिक्षा में जैसे महान् उद्देश्य की कल्पना की गई है उसकी पूर्ति के लिए वैसे ही महान् प्रयास की अपेक्षा भी है। यही नहीं, महान् प्रयास महान् शिक्षक के ही द्वारा सम्भव हो सकता है। ऐसे शिक्षकों में कौन-कौन से गुणों की बुटियाँ

बेसिक शिक्षा

की बुटियाँ

का होना आवश्यक है, उसकी एक झलक पिछले पृष्ठों में दी भी जा चुकी है। किसी एक विषय के पांडित्य से काम चलने को नहीं। शिक्षक को तो 'सब जाननेवाला' होना चाहिए। उसे एक-न-एक उद्योग में भी प्रवीण होना चाहिए। तभी वह सारे विषयों के आवश्यक ज्ञान उपयुक्त अवसरों पर उस उद्योग के साथ अनुबन्धित कर सकेगा, अन्यथा नहीं।

यही नहीं, उसे एक सकल नागरिक होना चाहिए तथा उसमें वे नैतिक और आध्यात्मिक गुण भी होने चाहिए, जिन्हें वह अपने विद्यार्थियों में उत्पन्न करना चाहता है। मौखिक उपदेश और आदेश से ये गुण उत्पन्न होने को नहीं। जब तक वह उन गुणों से सम्पन्न उदाहरण स्वयं बच्चों के समक्ष नहीं रखेगा उसके उपदेशों का कोई मूल्य ही नहीं होगा। अतः स्पष्ट है कि शिक्षक को एक आदर्श शिक्षक, एक आदर्श पंडित (विषयों का ज्ञाता), एक आदर्श कारीगर, एक आदर्श नागरिक तथा एक आदर्श व्यक्ति बनना है। व्यावहारिक जगत् में ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न शिक्षक कितने मिलेंगे ? यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है जब हम व्यावहारिक रूप में यह पाते हैं कि शिक्षण को अपना पेशा बनानेवालों में साधारणतः वे ही व्यक्ति होते हैं जो और-और पेशों

में असफल हो जाया करते हैं और अन्त में शिक्षण का द्वार खटखटाते हैं । वास्तव में जो व्यक्ति योग्य होते हैं, इनकी संख्या अवश्य थोड़ी है, वे और-और पेशों में निकल जाया करते हैं । स्पष्ट है कि निराश व्यक्तियों की शिक्षक-सेना निराशापूर्ण कार्य ही कर सकेगी । परिणाम यह होता है कि एक अच्छी चीज अयोग्य व्यक्ति के हाथ में पड़ कर बदनाम हो जाती है । हम यह कुछ अधिकारपूर्वक कह सकते हैं कि इस बेसिक शिक्षा की बदनामी, जो जनता की आँखों में आज हुई है, उसका अधिकांश उत्तरदायित्व हमारे शिक्षकों पर ही है । यह नहीं कि हम शिक्षकों को बुरा बताते हैं । हमने उनसे माँग ही इतनी बड़ी की है कि वह उनकी सामर्थ्य-सीमा से कई अंशों में बहिर्गत है ।

उस बेसिक शिक्षा की शिक्षण-प्रणाली के साथ यह भी एक कठिनाई है कि अधिकांश शिक्षक समवाय-शिक्षण-प्रणाली को पूरी तरह समझते नहीं हैं । जो थोड़े से समझते भी हैं वे इस प्रणाली का प्रयोग समझ कर भी सही रूप में कर नहीं सकते हैं । पुस्तकों में लिखी बातों को एक साधारण शिक्षक पढ़कर कह सकता है और समझा भी सकता है, पर उद्योग को केन्द्र बना कर सारे आवश्यक ज्ञान को सही-सही अनुबन्धित कर लेना सबकी सामर्थ्य के भीतर नहीं है । हमने कई बेसिक स्कूलों में स्वयं देखा है कि अधिकांश शिक्षक इस समवाय-शिक्षण-प्रणाली का एक स्वांग भर कर रहे हैं । परिणाम इसका यह हो रहा है कि समवाय-शिक्षण-प्रणाली से जिन लाभों की कल्पना और आशा की गई है, वे वास्तव में हो नहीं रहे हैं । सच पूछिए, तो इस प्रणाली को सफल करने के लिए शिक्षकों में बड़ी तैयारी की जरूरत है ।

यही है बेसिक शिक्षा-प्रणाली का दावा और यही है उसका वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप । इसका कल्पित स्वरूप असम्भव नहीं है, पर इसे सम्भव करने के साधन आज हमारे बीच नहीं हैं । सिद्धान्त और व्यवहार के बीच गहरी खाई का कारण यही है ।

